द्विमासिक पत्रिका
मई 2025-जून 2025

बेग़मपुरा

सभ्यता का आह्वान

साहित्य का आंदोलन-आंदोलन का साहित्य

संवाद का मंच

व्यक्तित्व व कृतित्व के मंच पर
मंगल चंद हांसदा

सीधा संवाद के मंच पर
ईश कुमार गंगानिया
प्रो. महेंद्र सिंह बेनीवाल
वेद प्रकाश

कथा-कहानी के मंच पर
विपिन बिहारी
डॉ. टेकचन्द
डॉ. पूरन सिंह

**अतिथि कवयित्री
एवं आमंत्रित कवि के मंच पर**
डॉ. मनोरमा गौतम
हरिश कुमार
विजय वास्तविक

निरख-परख के मंच पर
डॉ.अमलपुरे सूर्यकांत विश्वनाथ

भारत का अन्तर्मन

हमारे बारे में

'बेग़मपुराः सभ्यता का आह्वान' द्विमासिक पत्रिका है, जिसका इंडियन नेशनल लिटरेचर कॉफ्रेंस उपक्रम मूलनिवासी सभ्यता संघ द्वारा पीडीएफ प्रारूप में वेबबेस प्रकाशन किया जा रहा है। इसका प्रबंधन, वेब प्रकाशन मई–जून 2025 से किया जा रहा है। यह पत्रिका अंबेडकरवादी विचारधारा से परिचालित है जिसमें तथागत गौतम बुद्ध, रैदास, कबीर, फुले व पेरियार से लेकर मौजूदा मानवतावादी दर्शन शामिल हैं। समाज में समता, स्वतंत्रता, बंधुता की स्थापना हेतु यह पत्रिका मैत्री, प्रेम और सहिष्णुता की भावना को बढ़ाने का कार्य करती है। समाज में उपेक्षित–अधिकारविहीन व्यक्ति को अपने अधिकारों के प्रति जागरूक करना, संविधान की उद्देशिका के अनुरूप भारतीय समाज का मानस तैयार करना तथा भौतिक बुद्धिवाद की भारतीय सभ्यता का विकास करना इस पत्रिका उद्देश्य है।

पत्रिका के लिए सामग्री भेजते समय ध्यान रखने योग्य बातें

✎साहित्यिक रचनाओं के पुनर्पाठ, आलोचना के पूर्व प्रतिमानों की पुनर्व्याख्या करते हुए शोद्ध आलेख, आलोचकों की आलोचना, पुस्तकों को आधार बनाकर लिखें गए लेख, समसामयिक और ऐतिहासिक महत्व की पुस्तकों पर आधारित सूचनापरक लेख, बहुजन साहित्य की धारा जैसे दलित–आदिवासी–पिछड़ा वर्ग के बहुजन नायकों, कलाओं, गीतों और पेशों की जानकारी देते शोद्धपरक लेख।

✎सामग्री की शब्द सीमा 4 से 5 हजार है। सभी प्रकाशकीय सामग्री यूनिकोड में टाइप और अप्रकाशित होनी चाहिए। भाषिक शालीनता का ख्याल रखा जाए।

✎प्रकाशित होने वाली सामग्री का चयन संपादक मंडल द्वारा किया जाएगा।

✎संपादक को मूल भावना के अनुरूप आंशिक संशोधन/टिप्पणी करने का अधिकार होगा।

बेग़मपुरा
सभ्यता का आह्वान
साहित्य का आंदोलन-आंदोलन का साहित्य

वर्ष 1 | अंक 1 | मई-जून 2025 | दिल्ली

परामर्श मंडल

मा. बुद्धशरण हंस, मा. द्वारका भारती, मा. कर्मशील भारती, डॉ. कुसुम वियोगी, मा. विपिन बिहारी

पूर्व समीक्षक

प्रो. (डॉ.) नीलम, लक्ष्मीबाई कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

प्रो. (डॉ.) गोरख निळोबा बनसोडे (शोध निदेशक), हिंदी विभाग सरदार बाबासाहेब माने महाविद्यालय, सातारा, संबद्ध-शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर, महाराष्ट्र।

डॉ. प्रभाकर निसर्गंध, एसोसिएट प्रोफेसर, श्रीविजय सिंह यादव कॉलेज, पेठ गांव, कोल्हापुर सबंद्ध -शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर, महाराष्ट्र।

डॉ. देवी प्रसाद (आचार्य), सेठ नन्दकिशोर पटवारी राजकीय महाविद्यालय, नीम का थाना, संबद्ध -पंडित दीनदयाल उपाध्याय शेखावाटी विश्वविद्यालय, सीकर, राजस्थान।

प्रो. (डॉ.) सनोज कुमार, श्यामलाल कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

प्रधान संपादक	कार्यकारी संपादक
दयाराम	**शीलबोधि**
9368125292	9971566918

संपादक मंडल

डॉ. नीलिमा बागड़े, डॉ. श्यामसुंदर मिरजकर, डॉ. हरे राम सिंह, डॉ. अमित धर्मसिंह

9407352073 9421212352 8544034280 9310044324

प्रकाशन प्रबंधन : इंडियन नेशनल लिटरेचर कॉन्फ्रेंस, नई दिल्ली
(मूलनिवासी सभ्यता संघ का उपक्रम)

संपादकीय कार्यालय

527-ए, निकट आंबेडकर पार्क, नेहरु कुटिया, कबीर बस्ती, मल्कागंज, दिल्ली-110007

सहयोग राशि रु. 150 वार्षिक

शब्द संयोजन-सुनील कुमार बौद्ध | आवरण-महेश कुमार पासवान

'बेग़मपुरा: सभ्यता का आह्वान' में प्रकाशन संबंधी निर्णय संपादक मंडल द्वारा सामूहिक रूप से लिए जाते हैं, प्रकाशित लेखकों के विचार उनके अपने हैं, जिनसे संपादक मंडल की सहमति होना अनिवार्य नहीं है, संपादक मंडल को प्रकाशित होने वाली सामग्री में संशोधन या परिवर्तन करने का अधिकार होगा, 'बेग़मपुरा: सभ्यता का आह्वान' से संबंधित सभी विवादास्पद मामले केवल दिल्ली न्यायालय के अधीन होंगे। अंक में प्रकाशित सामग्री के पुनर्प्रकाशन के लिए लिखित अनुमति अनिवार्य है।

'बेग़मपुरा: सभ्यता का आह्वान' मूलनिवासी सभ्यता संघ के लिए मू. सुनील कुमार द्वारा ई पत्रिका के रूप में प्रकाशित करते हुए इंडियन नेशनल लिटरेचर कॉन्फ्रेंस की वेबसाइट पर जारी, संपादक शीलबोधि

बेग़मपुरा
सभ्यता का आह्वान
साहित्य का आंदोलन-आंदोलन का साहित्य
वर्ष 1 | अंक 1 | मई-जून 2025 | दिल्ली

संपादकीय
बेग़मपुरा संघर्ष की ऊर्जा: भौतिक बुद्धिवाद में मुक्ति का मार्ग -**शीलबोधि**☛3

व्यक्तितत्व-कृतित्व
गुरु गोमके पोन्डेत रघुनाथ मुर्मू -**मंगल चंद हांसदा**☛13

सीधा संवाद
बेग़मपुरा: सत्ता और समाज परिवर्तन का ब्लू प्रिंट -**ईश कुमार गंगानिया**☛15
संत रैदास का काव्य:वर्ण व जाति के प्रश्न -**प्रो. महेंद्र सिंह बेनीवाल**☛24
खंडित सपनों के खिलाफ -**वेद प्रकाश**☛29

अतिथि कवि/कवयित्री
डॉ. मनोरमा गौतम का काव्य संसार☛36

काव्य संगीति
हरिश कुमार की एक कविता☛35
विजय वास्तविक की दो कविताएं☛44

कथा-कहानी मंच
सिर कटी लाश -**विपिन बिहारी**☛38
शहीद -**डॉ. टेकचंद**:45
काश! तुम समझ पाते -**डॉ. पूरन सिंह**☛54

निरख-परख
'हमारे गांव में हमारा क्या है' में दलित संवेदना -डॉ.अमलपुरे सूर्यकांत विश्वनाथ☛60

संपादकीय

शीलबोधि

बेग़मपुरा संघर्ष की ऊर्जा

भौतिक बुद्धिवाद में मुक्ति का मार्ग

विचार जब विचारधारा तक अपना विकास कर लेता है, तब वह अपने किस्म की अलग ही दुनिया बसाता है। समस्या के निदान से जुड़ी सहमति व असहमति के द्वंद्व के बीच इंसानों की जज्बाती दुनिया को विचारधारा आमूल-चूल बदल देती है। इंसान का सामाजिक ही नहीं राजनीतिक व आर्थिक क्रिया-कलाप तक विचारधारा के अधीन वैसी ही चाल चलता है, जैसा विचारधारा का इशारा होता है। विचारधारा से ही इंसानी दिलो-दिमाग स्वाधीनता का लाभ लेता है। विचारधारा से ही दिलो-दिमाग को पराधीन कर इंसानों को दुखद मानसिक व शारीरिक गुलामी में धकेला जाता है। भारत में विचारधारा के दो स्रोत हैं, एक भौतिक बुद्धिवादी विचारधारा जिसका उद्‌भव भारत में ही हुआ और दूसरा ईश्वरवाद जिसका उद्‌गम भारत से बाहर हुआ है। भौतिक बुद्धिवादी भारत की मूल विचारधारा का हम यहां 'बेग़मपुरा:सभ्यता का आह्वान' द्विमासिक पत्रिका के रूप में मंच तैयार कर रहे हैं, जिसपर आपको सादर आमंत्रित करते हैं। संसाधनों का अभाव है, साथ ही तकनीक का इस्तेमाल से इसे हल करते हुए हम ई-पत्रिका के रूप में आपके मोबाइल, टेबलेट, लेपटॉप और डेस्कटॉप पर हाजिर होने के लिए तैयार है। इस द्विमासिक पत्रिका में आपको अपना स्वाभाविक और साझा भागीदार मानते हुए अपनी सोच, समझ और लक्ष्य से जुड़ी बातें साझा करते हुए हमें प्रसन्नता की अनुभूति हो रही है।

बेग़मपुरा शब्द क्यों चुना

पत्रिका निकालने के निर्णय के साथ यह भी निर्णय करना था कि पत्रिका का नाम क्या रखा जाए। यह काम शुरू में सरल लग रहा था, बाद में जटिल बन गया। नाम भर रखने का मामला नहीं था बल्कि ऐसा नाम रखने का मामला था, जो हमारी विचारधारा का प्रतिनिधित्व कर सके और साथ ही आगे के संघर्ष के लिए हमें ऊर्जावान बनाए रख सके। विभिन्न शब्दों के बीच से बेग़मपुरा शब्द सामने आया। बेगम शब्द इस दौर में एक प्रचलित शब्द है, यह मुस्लिम विवाहित महिला के लिए प्रयोग किया जाता है। यह समझा जाएगा कि 'बेगमपुरा' में हम मुस्लिम विवाहित महिलाओं के नगर की बात करना चाह रहे हैं। शब्दकोश से पता चला कि मुस्लिम विवाहित महिलाओं के लिए 'बेगम' शब्द का प्रयोग किया जाता है जिसमें 'ग' के नीचे नुक्ता नहीं लगाया जाता है, 'बेग़म' शब्द में 'ग़' के नीचे नुक्ता लगा होने के कारण 'बेगम' और 'बेग़म' दो भिन्न शब्द हो गए। नुक्ते वाले 'बेग़म' का अर्थ 'बिना गम का' और 'बेग़मपुरा' का मतलब हुआ 'बिना

गम का शहर'। हमने 'बेग़मपुरा' यानी बिना ग़म के शहर को अपना उद्देश्य बनाना पसंद किया जो बहुमत से पास हो गया। 'बेग़मपुरा' की अवधारणा पर रैदास व कबीर जैसे संतों की गहरी छाप थी, वास्तव में बेग़म जीवन शैली पर मूलभारतीय चिंतन ने लगातार बात की है, दुख मुक्त जीवन के लिए शब्द बेशक समय-समय पर बदल गए लेकिन चिंता नहीं।

बेग़मपुरा की सोच क्या है

दुखी जीवन का कारण अविद्या है और दुखमुक्त जीवन का उपाय विद्या है। ऐसे दुख जिसका कारण 'मनुष्य का व्यवहार' है, उनके अन्तर्निहित भी अविद्या ही है। समण व संत परंपरा ने 'यथार्थ' का ज्ञान न होने को अविद्या कहा है और इसे दुख का सबसे बड़ा कारण बताया है। अविद्या को दूर करने के लिए वे 'खुद' को जानने से शुरुआत करने का अनुशासन देते हैं। संतों ने 'खुद' अथवा 'स्वयं' शब्द को 'आपा' कहा है, और कहा है कि 'आपा' को वैसा ही जानो जैसा वह है अर्थात मनुष्य का आपा उसका शरीर है, इसलिए शरीर को शरीर के रूप में जानो। दिखाई देने वाले अंग आंख, नाक, कान, हाथ, पैर हैं और चमडी के नीचे ढके अंग दिल, दिमाग, आंत, फेफड़े, लीवर, किडनी आदि हैं। जैसे शरीर ऊपर दिये अंगों का समुच्चय है वैसे ही शरीर के अंग भी विभिन्न तत्त्वों के मेल से बने हैं। वास्तव में जिसे 'आपा' कहा जाता है वह अनंत तत्त्वों का समुच्चय ही है, संतों ने सुत्त दिया—'*आपा अनंत नहीं मानत, ताते मूल गवाई*' अर्थात हमारा 'आपा' अनंत तत्त्व हैं, नहीं मानते हो, इसलिए तो तुमने मूल ज्ञान गंवा दिया। महापरिनिर्वाण सूत्त में अपनी मृत्यु के समय तथागत बुद्ध भी आनंद को यही ज्ञान देते हैं, कि जो-जो अनंत तत्त्वों के संयोजन से बना है, उसका एक दिन नाश होना ही है। इन अनंत तत्त्वों को चार वर्गों में बांटा गया है, जैसे जल, थल, वायु और ताप। चार्वाक, कपिलमुनी, तथागत बुद्ध और यहां तक कि संत रैदास की बानी में भी अनंत तत्त्वों के यही चार विभाजन मिलते हैं, इनकी संख्या पांच नहीं है। जब तक इन चार पदार्थों के बीच ऐसी अनुपातिक सक्रियता संपन्न नहीं होती जो किसी जीव-जंतु व वनस्पति के उत्पन्न होने के लिए आवश्यक है तब तक ये चारों पदार्थ पारिस्थितिकी (शून्य) में विलीन रहते हैं यानी निराकार होते हैं। पर्यावरण में परस्पर निर्भरता की अवस्था के कई सारे चक्र मौजूद होते हैं। इन्हें संत साहित्य में 'सकल शून्य' कहा जाता है। जब विशेष कारण से इन चार पदार्थों के बीच होने वाली उचित आनुपातिक सक्रियता होने लगती है, तब जो निराकार है, वह आकार में दिखाई पड़ने लगता है। संतों ने इस संबंध में सुत्त वाक्य दिया है कि '*जल, थल अगन बारू का पूतलो*'। 'पूतलो' आकार को कहा गया है, जल सभी तरह के तरल है, थल पृथ्वी में पायें जाने वाले सभी खनिज हैं, बारू यानी वायु जिसे गैस कहा जाता है तथा अगन का अर्थ ताप से है। इन चार पदार्थो से ही पूतला यानी आकार उत्पन्न होता है। फिर आगे सूत्र देते हैं कि '*जहां का उपजा तहां बिलाई, सकल शून्य में रहा लुकाई*' अर्थात दुनिया में हर जीव, जंतु व वनस्पति हर जगह नहीं पाई जाती है। स्थान विशेष का परिवेश या पर्यावरण में चार पदार्थों की अनुपातिक मात्रा अलग-अलग होती है, उसी वजह से पर्यावरण में उत्पन्न जीव, जंतु व वनस्पति भी अलग-अलग होंगे। संतों ने ऊपर दिए सूत्र में कहा है—'जो जहां उपजता है, वह वहीं घुला-मिला रहता है' जैसे दूध में घी बिला रहता है।

संत साहित्य को पढ़ते समय संतो की बानी ऐसे आभास देती है कि प्रकृति के नियम मनुष्य के सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक जीवन पर भी लागू होने चाहिए। शरीर के अस्तित्व में हम अनंत तत्त्वों की भूमिका को स्वीकार करते हैं। इसलिए अनंत तत्त्वों की जरूरतों के अनुसार खाते-पीते हैं, प्रकृति खान-पान को अवशोषित करके अनंत तत्त्वों में जरूरत के अनुरूप वितरित कर देती है। यदि खान-पान से प्राप्त पोषक तत्त्वों का शरीर के किसी अंग को उचित भाग नहीं मिलता है, तो वह अंग बीमार हो जाता है, इसी के साथ पूरा शरीर खुद को बीमार महसूस करता है। डॉक्टर, वैद्य व हकीम दवाओं के माध्यम से अंग को उसकी उचित पोषक खुराक पहुंचाते हैं, जिससे अंग विशेष के ठीक हो जाने से शरीर स्वस्थ महसूस करता है।

समाज में जो वस्तु व सेवा उत्पन्न होती है, उसका वितरण समाज के अनंत अंगों के बीच उनकी जरूरत के अनुसार वितरित होना चाहिए। राजनीति वह प्रबन्धक है, जो समाज के सभी अंगों की जरूरत का वितरण करने का प्रबन्ध करती है। समाज के सभी अंगों को उसकी जरूरत की मदों के अनुसार अधिकार व कर्त्तव्यों का वितरण कैसे किया जाए, इसकी व्यवस्था करने के लिए 'एक विचार' की जरूरत होती है, इसकी पूर्ति विचारधारा करती है। विचार या विचारधारा केवल व्यवस्था भर है, जिनके जनक इसके प्रबन्धक होते हैं। वही राजनीति के साथ तालमेल बनाकर अधिकार व कर्त्तव्य के निर्धारण के द्वारा शिक्षा, वेतन, स्वास्थ्य, सुविधा, सुरक्षा आदि मामलों में वितरण करते हैं। वर्तमान समय में ब्राह्मण, ईसाई, इस्लाम, साम्यवाद, उदारवाद, लोकतंत्र, समाजवाद ये सभी विचारधाराएं हैं, जो समाज के विभिन्न अंगों के बीच ऊपर दी गई मदों को वितरण का प्रबन्धन करती है। इनकी या तो खुद की राजनीति होती है या ये मौजूदा राजनीति से तालमेल बनाकर वितरण प्रबन्धन की

व्यवस्था का संचालन करती है।

मनुष्य के जीवन की व्यवस्थाएं जितना प्राकृतिक नियमों से दूर होगी, उतना उनसे दुख उत्पन्न होगा। साधारण जनता को वह विचार जो वितरण व्यवस्था का प्रबन्ध करता है, ऐसा आदर्श या दृष्टि नहीं देता जिससे प्रक्रिया को देखा, जाना व समझा जा सके। डॉक्टर, वैद्य व हकीम के लिए शरीर स्थूल नहीं है बल्कि एक प्रक्रिया है, वैसे ही समाज या देश कोई स्थूल चीज नहीं है, वह भी प्रक्रिया है। प्रक्रिया; शरीर व समाज अथवा देश के विभिन्न अंगों की क्रियाओं का समावेशी रूप है। यहां अविद्या, वस्तु और सेवाओं के उत्पादन की प्रक्रिया का समावेशी रूप देख पाने के ज्ञान का अभाव है। विद्या समावेशी रूप को देख पाने का ज्ञान है। जिसका आधार शब्द से ज्यादा समझ होती है। ईश्वरवाद में शब्द का प्रमाण शास्त्र है जबकि भौतिक बुद्धिवाद में समझ का आधार अनुभव है। चार्वाक ने पांच ज्ञानेन्द्रियों के समक्ष जो प्रत्यक्ष हो सके, उसे ही प्रमाण माना। वही तथागत बुद्ध ने पांच ज्ञानेन्द्रियों में एक और मद शामिल की, वह 'मन' है यानी अवचेतना को शामिल कर अनुभव प्रमाण को परिष्कृत किया।

मध्यकाल की स्थिति ऐसी थी जब मनुष्य के प्राकृतिक अस्तित्व को अप्राकृतिक आवरणों से ढ़का जा रहा था। ये अप्राकृतिक आवरण 'हिंदू' व 'मुसलमान' के थे; जिनके खिलाफ पूरा संत-आंदोलन मुखर हो मुखालफत कर रहा था। संत जिनमें रैदास, कबीर व नानक आदि शामिल थे, ने साफ तौर पर घोषित कर दिया था, हिंदू कहो तो मैं नहीं, मुसलमान भी ना ही।' इससे भी आगे बढ़कर संतों ने तो अविद्यापूर्ण धार्मिक व्यवस्था के आधारों को 'ईश्वर राम' व 'खुदा' को ही सिरे से खारिज कर दिया, '*सुन सहज में दोऊ त्यागै, राम न कहू खुदाई*'। यहां दिए 'सहज' का क्या अर्थ है; 'सहज' है सहजता यानी प्रकृति और प्राकृतिक व्यवहार। भारतीय संदर्भ में भौतिकवाद प्रकृति और प्राकृतिक व्यवहार है, जो बुद्धिपरक समझ पर आधारित है। बेग़मपुरा इसी भौतिक बुद्धिवाद की सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक व्यवस्था का सपना है, जो मध्यकाल का लक्ष्य था, जिसे पाना अभी भी शेष है। अतः बेगमपुरा का यूटोपिया अपनी अहमियत आज भी रखता है, जिसे भारतीय संविधान की उद्देशिका के मार्फत हासिल करना है। भारतीय संविधान के उद्देश्य सामाजिक न्याय, राजनीतिक न्याय व आर्थिक न्याय के मूल्य को हासिल करने के लिए जिस मजबूत दर्शन की जरूरत है, वह दर्शन बेग़मपुरा से सिंधु घाटी सभ्यता की ओर जाते महामार्ग पर बसे सिद्ध, श्रमण, सांख्य व लोकायत जैसे महानगरों से आसानी से प्राप्त होता है। इसलिए बेग़मपुरा हमारे लिए अविस्मणीय है।

बेग़मपुरा की परिस्थिति

घोर राजनीतिक पराभाव की स्थिति में रैदास और कबीर की बानी में उफनता एक सपना है। इस सपने को सच करने के लिए उनके पास 'बेग़मपुरा' का लक्ष्य है, जो दिल्ली सल्तनत के उत्तरार्द्ध काल खंड से मुगल बादशाह बाबर के समय के बीच जन-आंदोलन में तब्दील होता अनुमानित होता है। इस दौर में बेग़मपुरा जन-आंदोलन क्यों बन रहा था। इसके पीछे ऐतिहासिक कारण यह है कि आबादी में जो परिवर्तन 1000 ई. के बाद हुए उसने सामाजिक समीकरण को बदल दिया था। मोटे तौर पर यहां अघोषित रूप से तीन वर्ग नज़र आते हैं, पहला वर्ग था-शासक व प्रशासकों का, दूसरा वर्ग-किसानों का और तीसरा वर्ग-कारीगरों का था। लगातार युद्ध में लिप्त होने के कारण शासकों का खर्च काफ़ी बढ़ गया था, जिसे किसान और कारीगरों से बार-बार वसूल किया जाता था। यह टैक्स इतना ज्यादा होता था कि इसमें कई बार किसानों की आधा से ज्यादा फसल चली जाती थी। लागत निकालने के बाद किसान के पास बहुत कम फसल गुजारे के लिए बचती थी। इसी बची फसल से उन्हें कारीगरों को देना होता था। जिससे कारीगरों को प्रर्याप्त प्रतिफल नहीं मिल पाता था, साथ ही तैयार माल पर भी टैक्स लगा दिया गया। मंहगाई से किसान व कारीगरों की कमर टूट गई, और उनकी जिंदगी ग़मगीन हो गई। सुलतानों ने टैक्स वसूली की कई प्रणालियों का विकास किया था लेकिन आमतौर पर इस संबंध में दो व्यवस्था लागू थी। ऐसे क्षेत्र जहां मुस्लिम शासक या प्रशासक के अधीन सीधे शासन व्यवस्था थी वहां 'इक्ता' नाम से टैक्स लिया जाता था। ऐसे क्षेत्र जहां मुस्लिम शासक या प्रशासक सीधे शासन व्यवस्था नहीं देख रहे थे, वहां उनके अधीन स्थानीय शासक (राजा) व प्रशासक जिनमें ब्राह्मण और राजपूत/ठाकूर जैसी जाति या वर्ण के लोग थे, किसान व कारीगरों से टैक्स वसूल करके सुलतानों को देते थे, जिसे खिराज कहा जाता था। यह भूमि-कर था, जिसे बाद में 'जजिया' टैक्स के रूप में ज्यादा पहचाना गया। उन कारणों को अभी जांचने की जरूरत है कि ब्राह्मणों पर यह टैक्स किसी शासक या प्रशासक ने क्यों नहीं लगाया, हालांकि फिरोज शाह तुगलक का शासन इसका अपवाद है। औरंगजेब तक ब्राह्मणों पर जजिया समेत कोई टैक्स नहीं लगा सका। इस विवेचन से यह अनुमान हो जाता है कि शासक व प्रशासक तथा उनके अधीन रहने वाले शासक व प्रशासकों और उनकी जाति व वर्ण के लोग जो समाज में अल्पजन थे, लेकिन मलाईदार स्थिति में थे, यदि ऐसा नहीं था तब भी वे समाज के बहुजन के मुकाबले ज्यादा अच्छी स्थिति में थे। किसी गांव का सामान्य मुखिया भी

बेहतरीन घोड़ा, नौकर-चाकर, धन-धान्य से भरपूर था, जबकि समाज के बहुजन की स्थिति बेहद ग़मगीन थी। समाज व्यवस्था व राज व्यवस्था के लिए सोचने-समझने वाले और रणनीति बनाने वाले लोगों की पहचान के तीन सामाजिक समीकरण यहां बनते हैं, पहला, 'इस्लामिक चिंतक', दूसरा 'वैदिक चिंतक' और तीसरा 'ग़ैर-इस्लामिक और ग़ैर-वैदिक चिंतक'। यहां सूफियों को इसलिए अभी अलग रखते हैं, क्योंकि इस्लामिक कट्टरता के कारण वे खुले स्वर में अपनी बात को नहीं रख पा रहे थे। संत रैदास और संत कबीर आदि ग़ैर-इस्लामिक और ग़ैर-वैदिक चिंतक थे। ऐतिहासिक रूप से समझा जाए तो रैदास व कबीर प्राकृतिक भौतिकवाद के बुद्धिवादी चिंतक थे। इस चिंतन परंपरा के चिंतकों ने देखा कि समाज में इस्लाम और वेद के समर्थक समाज में अल्पजन है जिनका जीवन साधन सम्पन्न और सुखपूर्ण है, वहीं बुद्धिवादी चिंतन के समर्थक समाज के बहुजन का जीवन ग़मगीन है, इसलिए उन्होंने इस बारे में सामाजिक व राजनीतिक स्थिति के विरुद्ध अपने संघर्ष का लक्ष्य तय किया। जिसकी घोषणा 'बेग़मपुरा शहर' और बेग़म देश' के रूप में की गई। ग़मगीन समाज को रैदास व कबीर जैसे संत बेग़म समाज व्यवस्था में बदलना चाहते थे।

बेग़म समाज की अवधारणा अति-प्राचीन

मध्यकाल के भारत में बेग़म-मनुष्य और बेग़म-समाज के लिए चिंतन की परंपरा का होना कोई नई बात नहीं थी। प्राचीन भारत में भौतिक-बुद्धिवाद की दार्शनिक परंपरा थी। इस चिंतन परंपरा से जो चेतना बनी थी उसके केंद्र में मनुष्य का 'सुखी-जीवन' यानी 'दुख मुक्त जीवन' है। सिंधु घाटी की सभ्यता में इसके स्पष्ट चिन्ह पाए गए। सन् 1921 में पुरातत्त्ववेत्ता जान मॉशल ने कहा है कि इसके वाशिदे इबादत नहीं करते थे, यहां इबादत करने का कोई सबूत नहीं मिला। न तो पूजा स्थल और न ही ऐसी कोई चीज जिससे अनुमान लगाए कि सिंधु सभ्यता में ईश्वर की अवधारणा थी। अपने दौर की पांच में से केवल एक सभ्यता ईश्वरवाद से मुक्त थी, वह थी सिंधु घाटी सभ्यता। इसका कारण यह था कि भारत की मिट्टी ने जिस बुद्धिवादी मनुष्य को जन्म दिया था, वह संभव्यत: शुरू से ही तथ्यों के आधार पर 'अनुभव' को प्रमाण मानता आया था। यदि यह तथ्य सही है कि सिंधु घाटी के लोगों का अन्य ईश्वरवादी सभ्यताओं से व्यापारिक लेनदेन था, तो यह तथ्य अपने-आप स्पष्ट हो जाता है कि वे ईश्वर की अवधारणा से अपरिचित नहीं थे। चार्वाक जिनकी प्राचीनता की तिथि का अनुमान नहीं लगाया जा सका है, पांच ज्ञानेद्रियों से अनुभूत चीजों को प्रमाण मानते थे। इसलिए ईश्वर का विचार उसके शब्दकोश में जगह नहीं बना सका। कपिलमुनी ने सांख्य दर्शन में ईश्वर को अपने पास फटकने भी नहीं दिया। बुद्ध सहित सभी समणों (श्रमण) ने ईश्वरवाद को सिरे से खारिज कर दिया। भौतिक-बुद्धिवादी चिंतन की सबसे बड़ी उपलब्धि यह थी कि इसने मनुष्य के 'सुख' और 'दुख मुक्त जीवन' पर खुद को केंद्रित करके रखा। यही परंपरा मंत्रयान, वज्रयान से होती हुई सहजयान के रूप में संतों तक पहुंची। सहजयान के अंतिम पड़ाव में संत दिखाई देते हैं। संत शब्द कोई नया शब्द नहीं था, त्रिपिटक में भी यह भौतिक-बुद्धिवादी परंपरा का ही अभिन्न हिस्सा है।

यहां यह गौरतलब बात है कि गौतम बुद्ध ने '*सभी दुखों का कारण अविद्या*' को कहा। संत रैदास ने तो अपने समय में इस सवाल को पूरे जोर-शोर से उठाया कि '*अविद्या हित किन्हा, मैंने नाम न किसी का लिना।*' (*बताइए अविद्या में किसका हित है, मैं किसी का नाम नहीं ले रहा हूं, इसलिए आप बताइए।*) महामना जोतिबा फुले तो सभी दुर्गति का एकमात्र कारण *अविद्या* को ही कहते हैं। इस चिंतन परंपरा में मनुष्य के जीवन के दुख का मुख्य कारण अविद्या को माना है। ये अपने युग के प्रतिनिधि स्वर है, इनमें आवश्यक एकता है। चार्वाक से लेकर जोतिबा तक 'ईश्वर' इनका चिंतन है ही नहीं।

ईश्वरवादी चिंतन दुनियाभर में अल्पजन अभिजात वर्ग के हित में खड़ा नजर आता है। ईश्वरवाद समाज के बहुजन को साधनहीन करके खैरात तो दे सकता है लेकिन खैरियत नहीं दे सकता है, विद्या नहीं दे सकता। ईश्वरवादी ने बहुजन को रोटी, कपड़ा और मकान का मोहताज बनाकर मुरादों का मुरीद बना दिया है। आर्थिक विषमता की खाई ईश्वरवाद इतनी चौड़ी कर देता है जिसे पाटना मुश्किल हो जाता है।

भौतिक बुद्धिवादी और ईश्वरवादी इन दोनों चिंतन धारा में से आज किस धारा के साथ हम खड़े हो सकते हैं। पहली चिंतन धारा भौतिक-बुद्धिवाद भारत की मूल विचारधारा है, इस मिट्टी से जन्मी है, इस देश का स्वभाव है; जो इंसान को जाति या धर्म से नहीं उसकी मूल संरचना से पहचाती है। इसी रूप में उसके अधिकारों पर बात करती है। वहीं सभी तरह की ईश्वरवादी चिंतन धाराएं भारत के बाहर से आई हैं और समाज के बहुजन के पक्ष में न बोलकर अल्पजन अभिजात के हित में काम करती है। भारत में ईश्वरवाद ने हम भारतीयों का साम्प्रदायिक विभाजन कर दिया है। जिससे हम भारतीयों की शक्ति विभिन्न साम्प्रदायिक समूह में बंट गई है।

सम्प्रदायों में बंटी भारत की जनता किसी एक विचारधारा की समर्थक हो

सकती है लेकिन अनुयायी नहीं। समर्थक और अनुयायी में मोटा अंतर यह है कि समर्थक आम आदमी होता है जो सुनी-सुनाई बातों के आधार पर जो बात उसे प्रिय लगती है, और जो बात वह बार-बार सुनता है, उसका समर्थक हो जाता है, वह विचारधारा के मूल पाठ को नहीं पढ़ता और न ही उसमें उसकी रूचि होती है। उसकी रूचि समाज के हित में कोई न कोई काम करके अपना योगदान देने में होती है। यही उसकी मुख्य चिंता होती है।

अनुयायी की मुख्य चिंता होती है कि वह ज्यादा से ज्यादा लोगों को अपनी विचारधारा का समर्थक बनाए ताकि वह और उसकी विचारधारा मजबूती से देश में लागू हो जाए और वह लोगों के दिलो-दिमाग पर शासन कर सके। अज्ञान और अनुमान के आधार पर अपना पाठ तैयार करता है, व्यक्ति को डराकर या ललचाकर अपना समर्थक बनाता है। वह अपने दर्शन का अध्येता होता है।

समर्थक समाज में बहुजन है और अनुयायी अल्पजन हैं।

अनुयायी द्वारा अपने सम्प्रदायों के लिएं ज्यादा से ज्यादा समर्थक जुटाने की मुहिम में दो भिन्न विचारधारा के अनुयायी अपने समर्थकों के साथ एक-दूसरे से युद्ध जैसी स्थिति में रहते हैं, मौका मिलते ही एक-दूसरे को जिंदा निगल जाने के मौके ढूंढते हैं। सम्प्रदायों में लोगों की यह घेराबंदी सभी प्रकार के ईश्वरवादी करते हैं। एक घेराबंदी (संप्रदाय) के लोग दूसरे घेराबंदी (संप्रदाय) के लोगों के मित्र कम शत्रु अधिक होते हैं। उन्हें इस अवस्था में पहुंचाने वाले दो या दो से अधिक विचारधारा के अनुयायी होते हैं। महत्वपूर्ण बात यह है कि शत्रुता की भावना पल्लवित करने वाले अनुयायी ईश्वरवादी हैं, बेशक उनके संप्रदाय एक नहीं हैं।

भारत का अपना, स्वयं का, ईश्वर की अवधारणा से मुक्त, भौतिक बुद्धिवाद, इंसान को घेराबंदी में, बंदी, नहीं देखना चाहता है। बंदी व्यक्ति डरा-सहमा रहेगा, ईश्वरवाद के विभिन्न प्रकारों के समर्थक डरे-सहमे रहते हुए अपनी जिंदगी काटते हैं। कहीं हमारे साथ बुरा न हो जाए, यह अंदेशा उनकी जिंदगी को डर से मुक्त ही नहीं होना देता है, वे विचारधारा के अनुयायियों की घेराबंदी (सम्प्रदाय) में बंदी-का-सा जीवन जीने के लिए अभिशप्त होते हैं।

रैदास का 'बेगम़पुरा' और कबीर का 'बेगम़ देश' हर तरह की घेराबंदी को तोड़ते हुए, जब वे साफ-साफ लहजे में समझा देता है कि 'न मैं हिंदू न मुसलमान' या 'हिंदू कहो तो मैं नहीं मुसलमान भी ना ही' प्राचीन भौतिक बुद्धिवाद की मध्यकालीन संत-रूप उपस्थिति पूरी तरह से साम्प्रदायिक घेराबंदी की खिलाफत कर रही थी, और अल्पजन अनुयायियों की घेराबंदी में बंदी बहुजन की मुक्ति के लिए संघर्ष कर रहा था।

घेराबंदी के बंदियों की आजादी का यह संघर्ष अपनी प्रकृति में प्राचीन काल से ही दार्शनिक, सामाजिक और राजनीतिक था। समर्थकों की ग़मगीन जिंदगी में मध्यकाल के भौतिक बुद्धिवादी चिंतक खुद को 'जन रैदास' और 'जन कबीर' कह रहे थे, जनता के लिए ग़मगीन दुनिया से अलग बेग़म दुनिया को सजाने का यूटोपिया एक लक्ष्य के रूप में दे रहे थे।

ईश्वरवादी विचारधारा के अनुयायियों का सारा बल इस बात पर था कि वे समर्थकों को मुरीद बनाकर रखे। जन रैदास और जन कबीर का सारा ध्यान इंसान में 'विमल विवेक' जगाने पर था, न कि अपना या अपनी विचारधारा का मुरीद बनाना। विमल का अर्थ शुद्ध और बौद्ध धम्म में यह आदर्श अवस्था थी, जिसे हासिल करने का आग्रह किया जाता था। विवेक का अर्थ बुद्धि तो पद बनता है, शुद्ध-बुद्धि या शुद्ध-बुद्ध अपभ्रंश की वजह से उच्चारण हुआ 'सुधबुध'। ईश्वरवाद की जमीन पर बेसुधबुध व्यक्ति आदर्श के रूप में खड़ा किया गया जो मूर्ति को मूर्ति के रूप में और इंसान को इंसान के रूप में पहचानने की सुधबुध खो चुका था; दूसरी तरफ, भौतिक बुद्धिवाद का आदर्श 'विमल विवेक' अथवा 'सुधबुध' वाला व्यक्ति है। रैदास कबीर की विचारधारा विद्या की बात पहले करती है। बिना विद्या के सुधबुध वाला इंसान बनाना मुश्किल है। सुधबुधवान व्यक्ति ही ग़मगीन समाज को बेग़म समाज में बदल सकता है। बहुजन साहित्य में असामाजिक तत्त्वों (जो अल्पजन होते हैं) को छोड़कर सभी के हित की बात करते हैं। यहां संत रैदास यह कहकर कि 'अविद्या हित किन्हा, मैंने नाम न किसी का लेना' अपने आपको पुराने समय से चली आ रही बुद्धिवादी ज्ञान परंपरा से संबद्ध कर देते हैं और बेसुध बुध करने वाली ईश्वरवादी धारा पर सवालिया निशान लगाते हैं। संयोग से जोतिबा फुले भी सामाजिक रंज का कारण अविद्या को ही मानते हैं। भौतिक बुद्धिवाद के सभी चिंतक व दार्शनिक अलग-अलग समय में युगीन जरूरतों के अनुसार दर्शन को परिष्कृत करके दुख, ग़म और रंज से मुक्त दुनिया के सपने पर कार्यवाही को आगे बढ़ाते नज़र आते हैं।

बेग़मपुरा एक यूटोपिया है

हम इस बारे में जागरूक हैं कि 'बेग़मपुरा' और 'बेग़म देश' यूटोपिया है। सवाल यह है कि यूटोपिया होता क्या है और यूटोपिया की अवधारणा का उपयोग कौन करता है। इसका जवाब हो सकता है-आबादी का वह हिस्सा जिसकी सामाजिक और राजनैतिक प्रतिष्ठा का ह्रास हो गया हो, उस समाज का विचारक सामाजिक व

राजनीतिक प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त करने के लिए संघर्ष हेतु जो एक लक्ष्य अथवा एक सपना देता है, उसे यूटोपिया कहा जाता है परंतु शर्त यह है कि इसमें वर्तमान के कठिन और दुखदायी जीवन के स्थान पर लक्षित भविष्य के सरल और सुखी प्रतिष्ठापूर्ण जीवन को प्राप्त करने का पक्का भरोसा हो। यूटोपिया ऐसी अभिप्रेरणा है जो व्यक्ति को उन कार्यवाहियों को करने के लिए उकसाती है, जिसके करने से सामाजिक व राजनैतिक गरिमा का जीवन प्राप्त होगा।

ये माना जाता है कि सर थॉमस मोर की सन् 1516 में प्रकाशित पुस्तक *'ऑफ द बैस्ट स्टेट ऑफ ए रिपब्लिक एंड द न्यू आइलैंड यूटोपिया'* में यूटोपिया की कल्पना ने लोगों का ध्यान अपनी ओर खींचा था। मार्क्सवादी संदर्भ में यूटोपिया की अवधारणा को नकारात्मक भाव में ग्रहण किया जाता है। जे एस मिल ने सन् 1868 में *यूटोपिया* (utopia) का विलोम शब्द गढ़ लिया जिसे उन्होंने '*डिस्टोपिया*' (dystopia) कहा था। *डिस्टोपिया* काल्पनिक 'बुरी जगह' के लिए प्रयुक्त किया गया और यूटोपिया को काल्पनिक 'अच्छी जगह' के लिये।

तथागत बुद्ध का दिया अष्टांगिक मार्ग (उपाय) भी भविष्य के समाज की परिकल्पना थी। भारत के संविधान की उद्देशिका में भी भावी भारत का समाज मौजूद है। एक सार्थक संघर्ष के लिए चिंतन और प्रयासों की लंबी श्रृंखला मजबूत पक्षधरता को जन्म देती है। बेग़मपुरा के सहारे पुर्खों के संघर्ष हमारे होसलों को कमजोर पड़ने से बचाते हैं, बचाएंगे।

भारत में सीधे तौर पर यूटोपिया की कोई अवधारण नहीं है और न ही अनुवाद के लिए कोई वैकल्पिक शब्द है। जो शब्द गढ़े जा रहे हैं, वे सटीक शब्दार्थ के परीक्षण से गुजर रहे हैं। हिंदी भाषा की दुनिया में जो विमर्श चल रहा है, वहां सामान्य रूप से मान लिया गया है कि भारत में तुलसीदास का *मानस* की कल्पना में सबसे पहले '*रामराज्य*' का यूटोपिया मिलता है। समय-समय पर साहित्यिक पत्रिकाओं में इसका जिक्र होता रहता है।

गेल ऑमवेट ने अपनी पुस्तक *सिकिंग बेग़मपुराः द सोशल विज़न ऑव एंटीकास्ट इनटलुकचल्स'* से इस बहस में दखल दिया, वे लिखती हैं कि भारत में पहली बार संत रैदास ने 'बेग़मपुरा' का यूटोपिया दिया था।

हम यह देखते है कि संत कबीर जैसे महान आंदोलनकारी चिंतक ने भी कहा है-*'अवधु बेगम देश हमार'*। कबीर तो यहां तक कहते है कि 'हंसा बेगम री गम कर रे, विगत करो बेगम में रेवो, जन्म मरण नहीं डर रे।।' (जीवित प्राणी बेग़म की ग़म (चिंता-फिक्र) कर ले, अभी, 'जो और जैसे' तेरा जीवन चल रहा है, उसे भूल जा; अब बेग़म देश में ही रह यानी रात-दिन बेग़म देश को हासिल करने की धुन में लग जा। जीने-मरने की चिंता छोड़ दे)। प्रो. शुकदेव सिंह द्वारा संपादित 'रैदास बानी' जो राधाकृष्ण से प्रकाशित हुई है, में पद सं. 4 में संत रैदास की बेग़मपुरा की अवधारणा देखी जा सकती है।

'अब हम खूब वतन घर पाया,
ऊंचा खेर सदा मन भाया
बेगमपुरा सहर का नाऊं
दुःख अंदेस नहीं तिहिं ठाऊं
ना तसबीस, खिराजु न मालू
खौफ न खता न तरसु जवालु
काइमु दाइमु सदा पातिसाही
दाम न साम एक सा आही
आवादानु सदा मसहूर
ऊहां गनी बसहिं मामूर
तिउं-तिउं सैर करहिं जिउ भावै
हरम महल मोहिं अटकावै
कह रैदास खलास चमारा
जो उस सहर सों मीत हमारा'

इस बानी में संत रैदास कहते हैं कि अब हमने वतन में बखूबी अपना घर पा लिया है, यह इतनी ऊंचाई पर स्थित है कि यहां किसी विपत्ति का कोई डर नहीं, यहां जो खैरियत की स्थिति है, वह मेरे मन को भाती है। इस जगह का नाम 'बेग़मपुरा है। दुख और लुट-पिट जाने के अंदेशें के लिए यहां कोई जगह नहीं है। भूमि-कर या माल पर कर के लिए बार-बार के बुलावे भी नहीं हैं। वैसी कोई बात भी नहीं कि खौफ़ में रहा जाए, न ही इस डर में रहे कि कहीं गलती हो जाए, न यहां किसी की जुबान कुछ कहने के लिए तरसती है। यहां अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता है। यहां ऐसी कौम का शासन है जो काम का पूरा दाम दिलाती है। चीज़ों का जो मुनासिब दाम है, वही उसकी क़ीमत है। कपट और फ़रेब से क़ीमतें तय नहीं होती हैं। बेग़मपुरा में बसने वाले लोगों का समाज को जो योगदान है, वह तो सदा से मशहूर है, लेकिन यह बात भी गौरतलब है कि यहां मर्मज्ञ (गुणी-ज्ञानी) लोग बसते हैं। इस बेग़मपुरा की सोच में मैं जहां-जहां घूमता हूं, मेरे मन को भाता है। हममें से ऐसे लोग अभी भी है, जिन्हें हरम और महलों का लालच देकर इस बेग़मपुरा तक पहुंचने से रोक दिया गया है। चाम-मांस-रक्त (च+मा+र) का मेरा शुद्ध शरीर कहता है कि जो बेग़मपुरा शहर को अपना मानता है, वही मेरा प्रिय हो सकता है।' इस पूरी कविता में शासन व प्रशासन द्वारा किये जा रहे सामाजिक व आर्थिक शोषण के विरुद्ध एक प्रस्ताव दिया गया है जिसे बेग़मपुरा का यूटोपिया कहा जाता है। मानवीय अधिकारों के हन्न के खिलाफ यह एक ऐतिहासिक दस्तावेज है। संत रैदास की एक अन्य कविता, '*रैदास*

सुख से रहन को, केवल दो हैं ठांव। एक सुख स्वराज में, दूसरा मरघट गांव।।' सीधे-सीधे राजनैतिक संघर्ष की कथा बुन रही है। ऐसे में अगर किसी को कोई शक है कि रैदास राजनीतिक संघर्ष के नाम पर दीवालिया थे, या जब देश जल रहा था, रैदास और कबीर जैसे संत भक्ति-रस की बांसरी बजा रहे थे, तो उन्हें इन पंक्तियों पर भी गौर कर लेना चाहिए, *'पराधीनता पाप है, जान लियो रे मीत। रैदास दास पराधीन से कौन करें है प्रीत।'* और इसी बात में कहीं गहरे अर्थ भरते हुए वे दोहराते हैं, *'पराध ीन का दीन क्या, पराधीन बेदीन। रैदास दास पराधीन को सबही समझै हीन।'* डॉ. आंबेडकर के 'स्टेट एंड माइनॉरिटी' को यदि ठीक से पढ़े, जहां निजीकरण को लोगों की पराध ीनता और पराधीनता को गुलामी सिद्ध किया गया है, वहां डॉ. आंबेडकर राजनीतिक ताकत के लिए सामाजिक व आर्थिक जीवन के पुनर्गठन की कोशिश करते नजर आते हैं। रैदास अन्य संतों के साथ उस संघर्ष का हिस्सा हैं जो अपनी पराधीनता को स्वाधीनता में बदल देना चाहता है। राजनैतिक अधिकारों के प्रति सुदृढ़ चेतना पूना पैक्ट से पूर्व डॉ. आंबेडकर-गांधी संवाद में भी साफ झलकती है, जब डॉ. आंबेडकर गांध ी से पूछते हैं कि मिस. गांधी मुझे यह बताइए कि मेरा देश कहां है। क्या यह मेरा देश है, जहां मेरे कोई हक और अधिकार नहीं हैं। यही बात मध्यकाल के कबीर कहते हैं, '*रहना नहीं देश बीराना*'। इस सारी विवेचना में यह साफ होता है कि भौतिक बुद्धिवादियों हाथ से राजनीति की कुंजी छिन जाने से उसके लिए प्रगति के द्वार पर लगे सारे ताले बंद हो गये, अगर हम पहचान पाते हैं तो दिखाई पड़ेगा कि राजनीति की कुंजी हासिल करने का संघर्ष 'बेग़मपुरा' में शब्द-दर-शब्द दर्ज है।

यूटोपिया क्यों जरूरी है/विचार की सत्ता

यूटोपिया एक ऐसी चीज है जो हवा में खड़ा एक महल की तरह नज़र आता है। हवा में महल नहीं खड़े होते हैं। यह पूरा सच नहीं है। कल्पनाओं में इमारत बनती हैं, योजना नक्शे के रूप में काग़ज़ पर दिखाई देती है और भविष्य में सार्थक सच्चाई बनकर इमारते नजर आती हैं। भविष्य की ज़मीन पर बसे बेग़मपुरा शहर के सुंदर व सुखी सामाजिक जीवन तक कैसे पहुंचा जाए? यह एक जटिल प्रश्न है। इस जटिल प्रश्न का अगर कोई हल है तो वह है, हमें एक रोड-मैप चाहिए, जिसकी मदद से हमारी वहां तक की यात्रा सम्पन्न हो जाए। दर्शन वह रोड-मैप है, जो बेग़मपुरा तक पहुंचने का रास्ता दिखाता है। साहित्य वह चीज है जो रोड-मैप के अनुसार रोड का निर्माण करता है। साहित्य के पास अगर दर्शन नहीं है, तब वह मार्ग नहीं बना सकता। यह अलग बात है कि वह पूरी मेहनत से तशले में भरकर रोड़ियों को दोपहर से पहले बीस फुट दूर ढेरी बना दे और फिर दोपहर बाद उन्हीं रोड़ियों को वापस जहां से उठाई थी वहीं पर डाल दे। वे लोग जो नक्शा नहीं रखते, वे इससे ज्यादा नहीं जानते है कि वे काम कर रहे हैं। वे नहीं जानते हैं कि वे क्या बना रहे हैं, कैसे बना रहे हैं और क्यों बना रहे हैं। ये सवाल उनके लिए बेफालतू के होते हैं। दर्शन वह नक्शा है, जो भावी योजना को साकार रूप में देखने का हुनर देता है। दर्शन को जानने वाला क्या, क्यों और कैसे का जवाब दे सकता है और किसी सोच को सच साबित कर सकता है।

साहित्य के पात्र दर्शन की मान्यताओं (सिद्धांतों) को व्यवहारिक जमा पहनाते हैं। किसी नाटक/कहानी के पात्र के सुख-दुख, उनकी विपत्तियां और दर्शन की मान्यताओं के अनुसार उसके संघर्ष की दिशा, इसके बाद सफलता, ये सभी घटनाक्रम पाठक/दर्शक का मानस बनाते हैं। मन ही मानस है। मानस सीखे-सिखाए पाठ व शिक्षाओं के साथ खुद के अनुभवों से तैयार शरीर का ओपरेटिंग सॉफ्टवेयर है। मानस का निर्णय मानव-शरीर के द्वारा कार्यवाही करने से पहले होता है। मानव-शरीर कभी भी मानस के आदेश के बिना काम नहीं करता है। अगर किसी कथा में दिए दर्शन की यह मान्यता है कि जीव हत्या पाप है और मन में सुरक्षित रखी हुई है, तब मन इस दिशा में शरीर को पशु-वध के लिए कोई आदेश नहीं दे सकता। मन के आदेश के बिना मनुष्य का शरीर हिंसा नहीं कर सकता। कसाई का पेशा अपनाए व्यक्ति के लिए दर्शन में पशुओं की कुर्बानी के नाम पर पशु-वध की मान्यता है, या जनता के भोजन के लिए पशु-वध पाप नहीं पुण्य है, जैसी मान्यता है तो कसाई का मन उसे पशु-वध का आदेश देगा और शरीर पशु वध कर देगा। किसी व्यक्ति का भले ही कसाई का पुश्तैनी पेशा है उसे भी अपने लड़के से यह काम करवाने के लिए सहमत करते समय कहानी सुनाने की जरूरत पड़ेगी। कहानी साहित्य से आएगी, साहित्य दर्शन की मान्यताओं के अनुसार काम करेगा। समाज का व्यवहार, व्यक्ति के व्यवहार के साथ-साथ बदलता है। बेग़मपुरा तक पहुंचने के लिए या जिस प्रकार का हमें समाज चाहिए वैसा हासिल करने के लिए दर्शन की मान्यताएं यदि हमारे पास नहीं हैं, तब तो साहित्य में साहित्यकार बिना नक्शे के काम करने वाले मजदूरों से ज्यादा

क्या कर पाएंगे। बेग़मपुरा तक उनका पहुंचना नामुमकिन हो जाएगा।

दूसरे शब्दों में, दर्शन के सिद्धांत आमजन/बहुजन की समझ से परे होते हैं। चंद बुद्धिमान लोग दर्शन के सिद्धांत को समझते हैं, आमजन/बहुजन नहीं। किसी दर्शन के सिद्धांत में जो कल्पना होती है, उसे साकार धरातल आमजन/बहुजन ही दे सकते हैं। दर्शन के सिद्धांत को जब आमजन/बहुजन समझ ही नहीं सकते, तो वे उसपर कार्य कैसे करेंगे। इस कैसे को बताता है, वह बुद्धिजीवी जो किसी दर्शन का अनुयायी है और साहित्य रचता है अर्थात कहानी, उपन्यास, नाटक, फिल्म, गीत, गजल या कविता लिखता है। वह अपनी साहित्यिक कृति में ऐसा चरित्र गढता है जो पुराने सिद्धांत के 'सामाजिक दुख' के विरुद्ध खड़ा होता है, और वैकल्पिक सिद्धांत के 'सामाजिक सुख' के लिए संघर्ष करता है। किसी कहानी/नाटक का चरित्र सीधे तौर पर सिद्धांत पर बात नहीं करता है, बल्कि सिद्धांत में समाये सपने पर बात करता है, उसे सच साबित करने के लिए मर-मिटने के लिए तैयार रहता है। कहानी/नाटक का चरित्र पाठक/दर्शक के मानस में नई इबाहत का मुरीद तैयार कर देता है। संगीतमय गीतों के सहारे 'बेग़मपुरा' की यात्रा में यदि आमजन/बहुजन का सफर राह के कांटो की परवाह करने की बजाय मंजिल की परवाह करता है। इस अनुक्रम में यूटोपिया यथार्थ बनता चलता है।

दार्शनिक युद्ध शब्दों के सहारे

बहुजनों के आंदोलन ने पिछले दिनों संस्कृति शब्द को नकार दिया। तर्क दिया गया कि अंग्रेजी के 'कल्चर' शब्द का सही अर्थ 'कलाचार' है। यह शब्द भारत की प्राचीनतम भाषा तमिल से लिया गया। साथ ही 'संस्कृति' के स्थान पर 'कलाचार' को रखने का औचित्य भी बताया।

भौतिक-बुद्धिवाद से अलग ईश्वरवादी चिंतन परंपरा ने ईसा पूर्व पालि व प्राकृत जैसे भाषा के सहज प्रवाह को बांधित करके नियमों के दायरे में बांधकर पालि की सहज शब्दावली को कलिष्ट (जटिल) करके बहुजन से काटकर अल्पजन की भाषा संस्कृत बना दिया था। संस्कृत भाषा में जो साहित्य अल्पजन ब्राह्मणों ने लिखा वह अल्पजन के हितों का पोषण करता था और बहुजन के हितों पर आघात करता था।

संस्कृत साहित्य ने जैसे चरित्र को नाटकों में प्रस्तुत किया, उसका आदर्श वे समाज में खड़ा करने में लग गए। वे महिला, पुरुषों और बच्चों के साथ अलग-अलग कामों में लगे लोगों पर अपने मत की मान्यताओं को आरोपित करने के लिए अपने साहित्य के दृष्टांत देने लगे। इस तरह संस्कृत साहित्य के चरित्र को समाज में तैयार करते हुए उसकी प्रशंसा में गुणगान करते हुए उसे सुसंस्कृत कहने लगे।

ब्राह्मणों ने अपनी दार्शनिक मत-मान्यताओं के अनुसार शास्त्र व साहित्य का सर्जन किया। उन्होंने उन लोगों की सुसंस्कृत कहकर प्रशंसा की जिन्होंने अपना व्यवहार संस्कृत में लिखे शास्त्र व साहित्य के अनुरूप कर लिया। जाति व वर्ण की मान्यताएं संस्कृत शास्त्र व साहित्य से उत्पन्न हैं। महाभारत जैसे संस्कृत साहित्य के दो चरित्र युधिष्टर और कर्ण में से कौन-सा चरित्र सुसंस्कृत व्यक्ति था। निश्चित रूप से युधिष्टर जिसका आचरण संस्कृत शास्त्र के अनुसार होने के कारण सुसंस्कृत है। युधिष्टर ही आदर्श है। यहां ध्यान इस बात पर जाता है कि 'सुसंस्कृत' एक शब्द नहीं है बल्कि एक दार्शनिक हथियार है। समाज का बहुत-सा व्यवहार इस साहित्य ने तय किया है, शायद ही कोई इस बात से असहमत होगा।

संस्कृत साहित्य ने 'गंगा नदी' को 'गंगा मां' कहकर वह जो नहीं थी, उसे कहा, यानी अविद्या (अज्ञानता) देनी शुरू की। इसी अज्ञानता से जो सामाजिक परिवेश और मानस तैयार हुआ, उसे संस्कृति कहा जाता है।

'कलाचार' शब्द मूलतः भारतीय है, और समाज में बहुजन कमेरों के काम से जुड़ा है। लुहार, सुनार, मोची, कुम्हार, किसान आदि का काम एक कला है, व्यापारी का व्यापार एक कला है। खाना परोशना एक कला है। भोजन बनाना कला है। अतिथियों का सत्कार एक कला है। पालि ने कलाचार सिखाया है। यह सहअस्तित्व की कला है। मुक्ति के आंदोलन में संस्कृति शब्द संकीर्ण है, कलाचार व्यापक शब्द है।

संस्कृति में प्रभुत्वशाली शब्द है-'आस्तिक' यानी 'निर्भर', अंग्रेज़ी में जिसे डिपेन्डेंसी कहा जाता है। हिंदी में इसके लिए 'पराधीनता' शब्द का भी प्रयोग किया जा सकता है जो स्वाधीनता का विलोम शब्द है। प्रश्न है- 'आस्तिक किसका?' उत्तर है- 'ईश्वर का।' इसके बाद मनुष्य का जीवन का, परम ध्येय ईश्वर को प्रसन्न रखना, तय कर दिया गया। ईश्वर प्रसन्न कैसे होंगे, इसकी विधि सबको नहीं बताई गई, क्योंकि ईश्वरवादियों ने इसे गुप्त रखा। बहुजन अल्पजन को इसलिए धन दे रहा है ताकि ईश्वर नाराज न हो जाए। इस व्यवस्था से अल्पजन विचारधारा के अनुयायी लाभ की स्थिति में हैं, लेकिन बहुजन पूरी तरह से घाटे में है।

भौतिक बुद्धिवादी आस्तिक नहीं है। वे क्योंकि आस्तिक नहीं; इसलिए आस्तिकों ने उसे नास्तिक कहा। यह

ठीक वैसी ही बात हुई कि चौथी संगीति के बाद कुछ लोगों ने खुद को 'महायानी' कहा तो दूसरों को 'हीनयानी' कहा। 'हीनयानी' कहना, महायानियों की शब्दावली है, लेकिन जिन्हें हीनयानी कहा जाता है, क्या वे भी खुद को हीनयानी कहते हैं? नहीं! वे खुद को थेरावादी कहते हैं। जो आस्तिक नहीं है, वह नास्तिक होगा, यह कोई जरूरी बात नहीं। वास्तव में जिन्हें नास्तिक कहा जाता है, उनके लिए सही शब्द स्वास्तिक है। नास्तिक का मतलब है किसी का आस्तिक नहीं और स्वास्तिक का मतलब है, स्वयं का 'आस्तिक' यानी 'आत्मनिर्भर'। नास्तिक को अंग्रेजी में इंडेपेन्डेंट कहेंगे और स्वास्तिक को सेल्फडिपेन्डेंट। सेल्फडिपेन्डेंट को हिंदी में स्वाधीन कहेंगे और यह शब्द पराधीनता का विलोम शब्द है। भौतिक बुद्धिवाद की धारा में गौतम बुद्ध कहते हैं कि 'अत्ता हि अत्तनो नाथो' यानी आप स्वयं के स्वामी स्वयं हैं, दूसरे शब्दों में आप खुद प्रभुतासम्पन्न हैं, आपका प्रभु कोई नहीं है। 'अत्त दीपो भव' यानी अपने दीपक स्वयं बनो, दूसरे शब्दों में तुम्हारे अंदर दीया, बाती, तेल सबकुछ वैसे ही है, जैसे किसी दूसरे व्यक्ति के पास हो सकता है। अपने अंदर का दीया तुम खुद जला सकते हो, उस दीपक को जलाओ। यही बात मध्यकाल में कबीर कहते हैं कि 'अपने घट दिवा बारू रे!' यह विचार पराधीनता को जन्म नहीं देते हैं बल्कि स्वाधीनता यानी स्वास्तिकता को बढ़ाते हैं, मजबूत करते हैं। आस्तिकता; पराधीनता की अवस्था है, जो निर्भर बनाकर रखती है, जिसमें मानसिक और शारीरिक गुलामी मौजूद होती है। जो व्यक्ति स्वाधीन है, वह स्वास्तिक है यानी आत्मनिर्भर है, उसे ही आजाद इंसान कहा जा सकता है।

स्वाधीनता, स्वास्तिकता की बात करने वाले सभी महाविभूतियां ईश्वर नहीं कहलाई बल्कि उन्हें 'भगवान' कहा गया। भगवान शब्द 'ईश्वर' शब्द का पर्याय नहीं है। भगवान शब्द का अर्थ है जो मन के पांच विकारों को भगन कर देता है, वह भगवान है। भगवान कहलाने वाले महानुभवों का मकसद दुख से मुक्ति का उपाय देना है। यह शब्द जनप्रिय था, इसलिए ईश्वरवादियों ने इसे अपना लिया। 'संत' शब्द सत्य बोलने वालों के लिए था, जिसे 'भक्त' कहलाने वालों ने अपना लिया। सत्संग या संगीति शब्द को भी कीर्तन या भजन से प्रतिस्थापित कर दिया गया। दार्शनिक विजय पाने के लिए शब्दों के सहारे एक-दूसरे के साथ युद्ध चल रहा है। यहां प्रत्यक्ष युद्ध की अपेक्षा सेंधमारी का छद्मयुद्ध है।

ईश्वरवादी लोग 'आदिवासी' को 'वनवासी' कह रहे है। 'समानता' के स्थान पर 'समरसता' शब्द का प्रयोग कर रहे हैं। जैसे उन्होंने स्वास्तिक को नास्तिक कहना शुरू किया था। ऐसा क्यों किया जा रहा है, इसका जवाब सरल नहीं है। आस्तिकों से स्वास्तिक भारत को बचाने के लिए 'संस्कृति' के स्थान पर 'कलाचार' पद का उपयोग किया जाना चाहिए। हमारी ओर से शब्दों के सहारे दार्शनिक युद्ध में भाग लेना किसी दर्शन को मिटाना या उसे गुलाम बनाकर रखना नहीं बल्कि अपने 'विमल-विवेक' की स्वाधीनता को बचाने का प्रयास है।

ईश्वरवादी दर्शनों के कारण हमारा भारत सम्प्रदाय के साथ छह हजार जातियों के टुकड़ों में बिखर गया है, जैसे सुंदर कांच का जार टूट गया हो। अल्पजनों ने अपने स्वार्थ के कारण विश्वविद्यालयों के विद्यावान विश्वगुरू भारत को अज्ञानी बनाकर छोड़ दिया है। सोने की चिड़िया कहलाने वाले वैशाली व पाटलीपुत्र जैसे महानगरों के स्थान पर भारत को 'गांवों का भारत' बनाकर छोड़ा दिया। आस्तिकों के तैंतीस करोड़ हथियारों से सजे ईश्वरों ने भारत को दरिद्रता और पराजय के सिवाय क्या दिया है। बिना हथियार वाले श्रमण गौतम और श्रमण महावीर का भारत इतना मजबूत था, जिससे लड़ने से पहले ही सिंकदर की सेना भयभीत होकर लौट गई थी।

शब्द के खेल में जिस दिन 'निर्वाण' को 'अमृत-पद' कहा, उसी दिन से भारत बुद्ध का देश न होकर बुद्धुओं का देश बन गया। आज एक तरफ आजादी का *अमृत* महोत्सव मनाया जा रहा है, वहीं सार्वजनिक क्षेत्र को निजी क्षेत्र के लिए खोलकर श्रमिकों को सेठ और साहूकारों का गुलाम बना दिया गया है।

खैर यह बहस काफी लंबी है, हम इसे यहां विराम नहीं देना चाहते हैं। इस बहस में हम सामाजिक परिवर्तन के आंदोलन के साहित्यकारों का ध्यान इस ओर जरूर खींचना चाहते हैं कि साहित्य का अन्तर्मन दर्शन की मान्यताओं से निर्मित होता है, इसलिए साहित्यकार का भौतिक बुद्धिवाद की मत-मान्यता से अनभिज्ञ होना बड़ा नुकसान साबित होगा।

यह संपादकीय काफी लंबा हो गया है, इसे स्वीकारते हुए भी, यह कहा जा सकता है, विमर्श से मुक्ति के लिए और दर्शन के प्रति उत्सुकता पैदा करने लिए ही हम इस आयोजन का नियोजन कर रहे हैं।

बाकी अगले अंक में फिर मिलते हैं, उस बहस के लिए जो जरूरी हो गई है।

शीलबोधि
कार्यकारी संपादक

गुरु गोमके पोन्डेत रघुनाथ मुर्मू
व्यक्तित्व व कृतित्व

मंगल चंद्र हांसदा

जन्म :
6 जनवरी 1970, झारखंड

शिक्षा :
वाणिज्य स्नातक

विशेष :
पत्रिका में आदिवासी मामले के प्रभारी

संपर्क :
9999897704

भारतवर्ष में रहने वाले आदिवासी में एक समुदाय 'संथाल' है। संथाल विशेषकर झारखंड, ओड़िसा, बिहार, पश्चिम बंगाल एवं आसाम राज्यों में बहुतायत में रहते हैं। ऐसे संथाल हमारे पड़ोसी देश बांग्लादेश और नेपाल में भी पाये जाते हैं।

संथाल समाज में अनेक महापुरुष पैदा हुए, जिन्होंने इस समाज की दशा को सुधारने के लिए नई दिशा दी। उसके लिए इन्होंने अपने जीवन समर्पित कर दिया। इन महापुरुषों में से गुरू गोमके 'पोन्डेत रघुनाथ मुर्मू' का नाम बड़े आदर एवं सम्मान के साथ लिया जाता है। इसका कारण यह है कि उन्होंने अपना सारा जीवन शिक्षा के द्वारा संथाल समाज को उन्नति की राह में अग्रसर किया।

गुरू गोमके पोन्डेत रघुनाथ मुर्मू का जन्म 5 मई 1905 को गांव डांडबुस, डाहारडीह टोला, रायरंगपुर, जिला मयूरभंज, ओड़िसा राज्य में पूर्णिमा के दिन पिता नंद लाल एवं माता सलमा मुर्मू के घर में हुआ था।

रघुनाथ मुर्मू को लोग केवल 'ओक-चिकि' लिपि के जनक या खोजकर्ता के रूप में ही ज्यादा जानते हैं, जबकि वे बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। उनके शोधपरक कार्यों और सर्जनात्मक लेखन ने समाज के अंदर

''रघुनाथ मुर्मू ने अपने दार्शनिक बोध एवं दूरदृष्टि से संथाल समाज में अशिक्षा के कारण फैली गरीबी एवं लाचारी को समझ लिया था। इसके लिये उन्होंने शिक्षा के द्वारा उसे दूर कर एक शिक्षित एवं उन्नत समाज की कल्पना की थी। रघुनाथ मुर्मू को ये बातें आरंभ से ही अच्छी तरह से समझ में आ गई थी कि समाज का संपूर्ण विकास के लिए अपनी मातृभाषा में शिक्षा प्राप्त करना एवं शिक्षित होना अनिवार्य है।''

युगान्तरकारी परिवर्तनों को घटित करने में महत्वपूर्ण और अविस्मरणीय योगदान दिया था। कवि, गीतकार, लेखक, उपन्यासकार, नाटककार, शिक्षक और शिक्षाविद के रूप में वे प्रसिद्ध थे। उनका लेखन इतना उम्दा था कि अक्सर उन्हें दार्शनिक के रूप में भी पहचाना जाने लगा।

रघुनाथ मुर्मू ने अपने दार्शनिक बोध एवं दूरदृष्टि से संथाल समाज में अशिक्षा के कारण फैली गरीबी एवं लाचारी को समझ लिया था। इसके लिये उन्होंने शिक्षा के द्वारा उसे दूर कर एक शिक्षित एवं उन्नत समाज की कल्पना की थी। रघुनाथ मुर्मू को ये बातें आरंभ से ही अच्छी तरह से समझ में आ गई थी कि समाज का संपूर्ण विकास के लिए अपनी मातृभाषा में शिक्षा प्राप्त करना एवं शिक्षित होना अनिवार्य है। इसके लिए वे कहते हैं, 'सेंड़ाय एम मेनेद् खान, पारसी माड़ां सेंड़ाय ताम। पारसी संड़ाम मेनेद् खान, रोड़ माड़ां सेंड़ाय ताम।।' (अगर आप कुछ सीखना चाहते हैं तो पहले मातृभाषा को सीखो। मातृभाषा सीखना चाहते हो तो सबसे पहले अपनी लिपि को सीखो।।) यही वजह थी कि उन्होंने अपना सारा जीवन ओक-चिकि लिपि की खोज करने और उनकी उन्नति के लिए लगा दिया। सन् 1925 ई. में कड़ी मशक्कत के बाद आखिर उन्होंने 'ओक-चिकि' लिपि को खोज निकाला। ओक-चिकि लिपि की यह विशेषता है कि इस लिपि की मदद से संथाली भाषा को शुद्ध रूप में

''रघुनाथ मुर्मू ने ओक-चिकि लिपि को खोज लेने के बाद इसका प्रचार प्रसार करने के लिए गांव-गांव और प्रांत-प्रांत भ्रमण किया। इसके लिए उन्होंने 'आदिवासी सोश्ओ-एजुकेशन-कल्चर एसोशिएशन(एसेका) नामक संस्था का 1 जून, 1964 को ओड़िसा के रायरंगपुर नामक स्थान में गठन किया, जो संथाली भाषा एवं ओक-चिकि लिपि के प्रचार-प्रसार के साथ शिक्षा प्रदान करता है।''

उच्चारण किया जा सकता है, साथ ही लिखा और पढ़ा जा सकता है। ओक-चिकि लिपि में यदि अन्य भाषाओं को लिखा जाए तो उनका भी सही उच्चारण किया जा सकता है, पढ़ा और लिखा भी जा सकता है। इस विशेषता के कारण ओक-चिकि लिपि को वैज्ञानिक लिपि के रूप में मान्यता देने में कोई अरचन नहीं आती है।

रघुनाथ मुर्मू ने ओक-चिकि लिपि को खोज लेने के बाद इसका प्रचार प्रसार करने के लिए गांव-गांव और प्रांत-प्रांत भ्रमण किया। इसके लिए उन्होंने 'आदिवासी सोश्ओ-एजुकेशन-कल्चर एसोशिएशन (एसेका) नामक संस्था का 1 जून, 1964 को ओड़िसा के रायरंगपुर नामक स्थान में गठन किया, जो संथाली भाषा एवं ओक-चिकि लिपि के प्रचार-प्रसार के साथ शिक्षा प्रदान करता है। वर्तमान में एसेका संस्था की विभिन्न स्थानों में शाखाएं विद्यमान हैं। संथाली भाषा के माध्यम से शिक्षा प्राप्त करने में कठिनाई न हो, इसके लिए उन्होंने 150 से ज्यादा पुस्तकें लिखीं। उनके द्वारा लिखी गई प्रमुख पुस्तकें हैं ओल चेमेद, एलखा, हितल, बांखेंड़, रोनोड़, पारसी पोहा, होड़ सेरेंञ और लाकचार सेरेञ। उन्होंने कुछ लोकप्रिय नाटक भी लिखें' बिदु-चॉदान, दाड़े में थोन, सिदु-कान्हू हुल और खेरवाल बीर। जिसे आरंम्भ में उन्होंने स्वयं ही मंचित भी किया।

उन्होंने 'ओल-चिकि' लिपि को छापने के लिए छापाखाना मशीन भी बनाया। छापाखाना को आज के झारखण्ड राज्य के 'जमशेदपुर' नामक शहर में बनाया, जो ओड़िशा के रायरंगपुर शहर से करीब था। उन्होंने उस प्रेस का नाम 'चॉदान प्रेस' रखा। उस प्रेस से गुरू गोमके द्वारा लिखी गई पुस्तकों को छापा गया। साथ ही मासिक पत्र-पत्रिकाओं का भी प्रकाशन किया गया।

'ओल-चिकि लिपि के आविष्कार ने संथाल समाज में शिक्षा के क्षेत्र क्रांति का संचार किया। लोगों में संथाली भाषा के प्रति अथाह प्रेम उमड़ पड़ा। साथ ही अपने लिपि में

पढ़ने-लिखने का ललक पैदा हुआ। सन् 1964 में 'एसेका' के स्थापना के बाद विभिन्न स्थानों में उनके द्वारा संचालित शाखाओं पर अपने मातृभाषा और अपनी लिपि से पढ़ने-लिखने के लिए लोग उमड़ पड़े। लोगों का यह ललक कब आकांशा में बदलकर संथाली भाषा के लिए आंदोलन का रूप ले लिया और यह आंदोलन '22 दिसम्बर 2003' को भारत के संविधान की अनुसूची में संथाली भाषा को अनुसूचित कर ही विराम हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि सरकार द्वारा संथाली भाषा को विकल्प या अनिवार्य विषय के रूप में पढ़ने का अवसर प्राप्त हुआ। इससे उन छात्रों ने संथाली विषय के स्नातक स्तर, ऑनर्स और स्नातोत्तर स्तर पर पीएचडी किया। वर्तमान में वे सब छात्र कॉलेजों में लेक्चर एवं प्रोफेसर बनकर नौकरी कर रहे हैं। जो रोजगार के साथ आजीविका का साधन बन गया। साथ ही वे सब छात्र वे सब छात्र विश्वविद्यालयों में संथाली विभाग के विभागाध्यक्ष पदों को सुशोभित कर रहे हैं। उसी तरह राज्य स्तरीय लोक सेवा आयोग जैसे झारखण्ड लोक सेवा आयोग, पश्चिम बंगाल लोक सेवा आयोग, ओड़िसा लोक सेवा आयोग आदि में संथाली भाषा को विकल्प/अनिवार्य विषय के रूप में चुनकर परीक्षार्थी अच्छे अंक से उत्तीर्ण कर रोजगार के अवसर प्राप्त कर सकते हैं। इसमें भी संथाली भाषा के विषय को राज्य की लिपि के साथ 'ओल-चिकि' में भी परीक्षा दे सकता हैं। राष्ट्रीय स्तर में भी संघ लोक सेवा आयोग जैसे संस्था भी संथाली विषय को देवनागरी या 'ओल-चिकि' में परीक्षा दिया जा सकता है। इससे परीक्षार्थी राष्ट्रीय स्तर पर प्रशासनिक सेवा में जाकर देश की सेवा करने का अवसर प्राप्त कर सकता है। राष्ट्रीय स्तर पर ही और एक संस्था है जिसे साहित्य अकादेमी कहते हैं। यह संस्था प्रत्येक वर्ष आठवीं अनुसूची में सम्मिलित भाषाओं के साहित्यकारों को सम्मानित करती है। इसमें भी संथाली भाषा के साहित्यकारों को भी सम्मानित करती है, जो 'ओल-चिकि' में साहित्य का सृजन करता है। यह संथाल समाज के लिए बड़ी उपलब्धि है।

गुरू गोमके ने 'ओल-चिकि' लिपि का आविष्कार संथालों को एक सूत्र में बांधने के लिए किया, क्योंकि संथाल भौगोलिक कारणों से अलग-अलग राज्यों में रहते हैं। इस कारण वहां की राज्य भाषा एवं लिपि में पढ़ने-लिखने के लिए मजबूर थे।

इस तरह गुरू गोमके ने अपने अथक प्रयास से लिपि और मातृभाषा द्वारा संथालों को एकजुट कर संथाल समाज को एक नई दिशा और प्रगति के पथ पर अग्रसर किया।

उन्होंने हमें समाज को किस तरह प्रगति के पथ पर ले जाना है, हमें अपने कार्यों द्वारा दिखाया। उनके द्वारा समाज के लिए बहुमूल्य योगदान को देखते हुए, गणमान्य व्यक्तियों एवं संस्थाओं ने उन्हें विभिन्न उपाधि और सम्मान से नवाजा-

1) आदिवासी महासभा रायरंगपूर, ओड़िसा।

2) माननीय जयपाल सिंह मुंडा-पोन्डेत

3) डॉ. मार्टिन उरांव 'स्प्रिरिचुअल गुरू'

4) मिस्टर सी मुखर्जी 'प्रिस्टि आफ द ट्राइबल'

5) मिस्टर रंजित सिंह बारिहा 'अ ग्रेट ऑराटोर विद चार्मिंग व्याइस

6) मिस्टर एम डी जोलियस तिग्गा- इंवेंटोर एंड ड्रामास्टि

7) डुमखुरिया रांची 'डी-लिट

8) उड़िया साहित्य अकादेमी 'फाउंडर आफ संथाली लेंवेजेज, लिटरेचर एंड इंवेंटर ऑफ ऑल-चिकि स्क्रिप्ट'

उनके द्वारा अतुलनीय कार्यों के लिए विशेषकर संथाल समाज हमेशा उनका ऋणी रहेगा। उन्होंने बेंदकुंदरी डाही, झारग्राम (पश्चिम मिदनापुर जिला), पश्चिम बंगाल राज्य में सिदु-कान्हू विश्वविद्यालय बनाने का सपना देखा था, जो उनके जीवित रहते सच नहीं हो पाया। '1 फरवरी 1982' को गुरू गोमके हमें अनाथ छोड़कर इस दुनिया से हमेशा के लिए चल बसे। लेकिन उनका देखा हुआ सपना अधूरा रह गया। अगर हम सही अर्थों में उनके ऋणी हैं, तो उनके अधूरे सपने को पूरा करने का बीड़ा उठाना होगा और उसे मुर्त रूप देना होगा। तभी गुरू गोमके को हमारे तरफ से सच्ची श्रद्धाजलि होगी।

सीधा संवाद

बेगमपुरा
सत्ता और समाज परिवर्तन का ब्लू प्रिंट

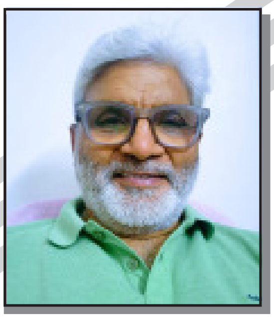

ईश कुमार गंगानिया

जन्मः
15 अगस्त 1957

शिक्षाः
एम.ए. (अंग्रेजी व राज. विज्ञान) व बी.एड.

कृतिः

हिंदी में-
12 काव्य संग्रह, 1 ग़ज़ल संग्रह, 1 कहानी संग्रह, 1 उपन्यास, 2 पुस्तकें मूलनिवासियों के संघर्ष पर, 8 किताबें साहित्यिक आलोचना व समकालीन मुद्दों पर व एक आत्मवृत

अंग्रेजी में-
1 कहानी संग्रह, 1 उपन्यास, 1 कविता संग्रह, 1 ओटोबायोग्राफी

ikgangania@gmail.com

बेग़मपुरा को समझने के लिए पहले तथागत बुद्ध के पटिच्चसमुप्पाद के सिद्धांत पर सरसरी तौर पर नजर डालना जरूरी महसूस हो रहा है। विकिपीड़िया के अनुसार-'कोई भी घटना केवल दूसरी घटनाओं के कारण ही एक जटिल कारण-परिणाम के जाल में विद्यमान होती है। प्राणियों के लिये इसका अर्थ है-कर्म और विपाक (कर्म के परिणाम) के अनुसार अनंत संसार का चक्र, क्योंकि सब कुछ अनित्य और अनात्म (बिना आत्मा के) होता है, कुछ भी सच में विद्यमान नहीं है। हर घटना मूलतः शून्य होती है। परंतु, मानव, जिनके पास ज्ञान की शक्ति है, तृष्णा को, जो दुःख का कारण है, त्यागकर, तृष्णा में नष्ट की हुई शक्ति को ज्ञान और ध्यान में बदलकर, निर्वाण पा सकते है।'

बेग़मपुरा को यदि पटिच्चसमुप्पाद की रोशनी में देखें तो संत रैदास दुखी हैं, उनके दुख का कारण शहर यानी राज्यत के चरित्र का अमानवीय व शोषणकारी हो जाना है। रैदास के दिमाग में इसके कारण के निवारण के रूप में बेग़मपुरा की अवधारणा का उदय होता है। ऐसी अवधारणा का उदय रैदास जैसे जागरूक, जिम्मेदार, संवेदनशील व विवेकशील नागरिक के ज़हन में होना स्वाभाविक है। जाहिर है, ऐसा उन्हीं के साथ होता है जो धारा के विरुद्ध तैरने का साहस रखते हैं। बेग़मपुरा की अवधारणा किसी व्यवस्था विशेष से पलायन की नहीं है, बल्कि एक नई व्यवस्था के ब्लूप्रिंट जैसी है। रैदास जैसा साहस आज भी देखने में दुर्लभ लगता है। आज के हालात रैदास के काल से कोई ज्यादा अलग नहीं हैं। पहले हम बाहर वालों के गुलाम थे, आज तथाकथित अपनों के गुलाम है। दोनों की स्थितियों में हम 'गुलामी' के दंश को झेलने के लिए अभिशप्त हैं।

इसी गुलामी के कारण आज भी हम यानी आम आदमी बुरी तरह त्रस्त है। हमारी जीवन स्थितियां बद से बद्तर होती जा रही हैं। ऐसा नहीं लगता कि जैसे हम लोकतंत्र में और संविधान के शासन में जीवनयापन कर रहे हैं; क्योंकि जिन्हें हमने अपने बेहतर भविष्य के लिए चुना है, वे

अपना भविष्य बनाने में इतने व्यस्तं हैं कि उन्हें आम जनता के विषय में सोचने-विचारने के लिए फुर्सत ही नहीं है। वे जनता के पास तभी आते हैं, जब उन्हें अगले पांच वर्ष के लिए अपना कार्यकाल रिन्यू कराना होता है या अपनी कुर्सी सुरक्षित करनी होती है। इस इसके बावजूद प्रत्येक जागरूक व्यक्ति के पास ऐसी विषम परिस्थितियों में भी अपने सुकून को लेकर बेग़मपुरा जैसे यूटोपिया के लिए पर्याप्त स्पेस होता हैं।

यह अलग बात है कि आज का व्यक्ति अपने निजी हितों या नफे-नुकसान तक सिमट कर रह गया है। इसलिए वह अपने हाथ-पैर व जुबान तभी चलाता है जब उसके निजी हित आहत होते हैं। यदि उसका पेट भरा है, तो उसे भूख व अन्याय के विरुद्ध चीख-पुकार कितनी भी भयावह क्यों न हो, वह मूक-बधिर ही बना रहता है। उसके क्रियाकलाप आत्मकेंद्रित हो चले हैं। कई बार तो वह प्रत्यपक्ष या परोक्ष रूप से लोकतंत्र के साथ खिलवाड़ करने वाली ताकतों के साथ खड़ा नजर आता है। मगर रैदास जैसे संतों के साथ ऐसा नहीं था। रैदास यद्यपि वह बहुत सरल व साधारण आजीविका के साथ जिंदगी जीते थे, मगर उनका दिल पूरे समाज, देश व मानवता के लिए धड़कता था।

जहां तक आज के तथाकथित आधुनिक संतों और बाबाओं का सवाल है, कुछ तो बलात्कार जैसे नए कीर्तिमान स्थापित कर भारतीय जेलों की शोभा बढ़ा रहे हैं। कुछ सरकार का भोंपू बन अपने व्यापार में चार चांद लगा रहे हैं। कुछ प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से सत्ता के प्रचार मंत्री की भूमिका में स्वयं को गौरवान्वित महसूस करते हैं। कुछ ऐसे भी तथाकथित संत-महात्मा हैं, जो धर्म के नाम पर समाज में सौहार्द और अमन-चैन स्थापित करने की बजाय धार्मिक उन्माद फैलाने में एड़ी चोटी तक का जोर लगाते हैं और अपने वचस्वौ का परचम लहराते हैं।

कुछ ऐसे साधु-संत भी हैं, जो सत्ता के पक्ष में जनता के वोट की दलाली में लिप्त हैं। जब भी सत्ता को उनसे अपने हित में ऊल-जुलूल ब्यान दिलाने होते हैं, वे इन्हें हरी झंडी दिखाते हैं और जनता भेड़-बकरी की तरह सत्ता के बाड़े में ले आते हैं, सत्ता इनका दोहन करती है और ये वापस अपने-अपने दड़बों में लौट जाते है। इनके लिए तो बूढ़ा मरे या जवान,

''संत रैदास तत्कालीन सत्ता और समाज के अवसरवादी लोगों द्वारा पैदा की गई अराजकता के विरुद्ध डटकर खड़े होते हैं। गौरतलब है, जिस दुःख का शिकार जनसाधरण है, रैदास खुद अपने आपको इससे बाहर नहीं मानते।''

इन्हें तो सिर्फ हत्या से काम रहता है। इन्हें देश-दुनिया के हित-अहित व अच्छे-बुरे से कोई लेना-देना नहीं है। लगता है, इन कूपमंडूपों की देश-दुनिया के बारे में कुछ सोचने-समझने की औकात ही नहीं है। हां, एक बात जरूर है कि जहां कहीं संख्या या शक्ति प्रदर्शन की जरूरत होती है, वहां ये नमक का हक अदा करने से कभी पीछे नहीं हटते। खैर...

जब हम रैदास और संत परंपरा के संतों के बारे में विचार करते हैं एक अद्‌भुत सुकून की अनुभूति होती है। रैदास अपनी आजीविका के लिए परंपरागत जातीय पेशे से जीवन की जरूरतों का सामान जुटाते हैं; यानी स्वाभिमान से परिपूर्ण आत्मनिर्भर जीवनयापन करते हैं। इसके साथ-साथ वे अपनी संतई के क्षेत्र में अपनी जागरूकता और तर्क-विवेक के अद्‌भुत कीर्तिमान स्थपित करते हैं। उनका चिंतन-दर्शन आज भी उतना ही प्रासंगिक लगता है, जितना उस काल में रहा होगा, जिसका वे प्रतिनिधित्व करते हैं। ऐसी ही आत्मनिर्भरता संत कबीर और इनके अन्य समकालीन संतों में नजर आती है। यह संत परंपरा और इसके अनुसरणकर्ताओं के लिए बेहद फख्र का विषय है।

इससे भी बड़े फख्र की यह बात है कि उनमें तर्क-विवेक के साथ-साथ उनके सोचने का कैनवास बेहद बड़ा है। इसमें समाज, राष्ट्र और मानवता के प्रति समर्पण और ईमानदारी कूट-कूट कर भरी लगती है। परिणामस्वतरूप, संत रैदास तत्कालीन सत्ता और समाज के अवसरवादी लोगों द्वारा पैदा की गई अराजकता के विरुद्ध डटकर खड़े होते हैं। गौरतलब है, जिस दुख का शिकार जनसाधारण है, रैदास खुद अपने आपको इससे बाहर नहीं मानते। वे चारों ओर व्याप्त तृष्णा के शिकार नहीं होते और न ही दुख में डूबकर निराश-हताश ही होते हैं। वे अपनी इच्छा शक्ति को ज्ञान और ध्यान में व्यय करते हैं, जो निर्वाण का मार्ग है।

गौरतलब है कि यहां रैदास का लक्ष्य निर्वाण प्राप्ति नहीं, बल्कि दुख पैदा करने वाली तत्कालीन परिस्थितियों से निजात पाना है। क्योंकि ये परिस्थितियां व्यक्ति के जीवनयापन और प्रगति के मार्ग में बाधक हैं। संत रैदास की नजर में इन बाधाओं का विकल्प कुछ और नहीं बल्कि बेग़मपुरा है। बेग़मपुरा का मतलब ऐसा शहर, ऐसा राज्य जहां व्यक्ति सारे गमों से दूर हो और सुखमय जीवन का निर्वाह कर सकें। बेग़मपुरा की अवधारणा को प्रस्तुत करने वाली कविता निम्न-लिखित है—

बेग़मपुरा सहर का नाऊं, दु:ख अंदेस नहीं तिहिं जाऊं।।
ना तसबीस, खिराजु न मालू, खौफ न खता न तरसुजवालु।
अब मोहि खूब बतनगह पाई, ऊहांखैरि सदा मेरे भाई।
काइमुदाइमु सदा पातिसाही, दाम न, साम एक सा आही।
आवादानु सदा मसहूर, ऊहां गनी बसहिं मामूर।
तिउं-तिउं सैर करहिं जिउं भावै, हरम महल मोहिं अटकावै।
कह रैदास खलास चमारा, जो उस सहर सों मीत हमारा।

मौजूदा कविता के बारे यह कहना अनिवार्य महसूस हो रहा है कि मुझे नहीं मालूम कि यह कविता कितनी मौलिक है और कितनी नहीं। मुझे यह भी नहीं मालूम कि इसमें सारे शब्द मौलिक हैं या रैदास पर काम करने वाले शोधार्थियों ने अपनी सुविधानुसार इनमें कुछ हेर-फेर कर दिया है। लेकिन एक दावा अवश्य कर सकता हूं कि जब हम कविता को सार रूप में देखते हैं तो यह रैदास के चिंतन-दर्शन के रूप में काफी हद तक मुकम्मल नजर आती है। मेरे लिए इस अपरिचित शब्दावली वाली कविता को संदर्भ सहित सरल शब्दों में व्यक्त करना थोड़ा मुश्किल काम था; लेकिन मैंने अपनी सामर्थ्य के अनुसार इसके साथ न्याय करने का भरपूर प्रयास किया है। अब मैं इसके साथ कितना न्याय कर पाया हूं, यह अपने आप में एक अलग विचारणीय बिंदु हो सकता है।

'बेग़मपुरा' नामक कविता स्पष्ट प्रमाण है कि संत रैदास अपने समय की शासन-व्यवस्था और अपने आस-पास की परिस्थितियों से बेहद असंतुष्ट थे। इससे मुक्ति के लिए संत रैदास एक ऐसे शहर यानी ऐसे देश की परिकल्पना करते हैं, जो सभी प्रकार के गमों व दुखों से मुक्त हो। वे इसे बेग़मपुरा यानी बिना गमों का शहर की संज्ञा देते हैं। रैदास के ख्यालों या यूं कहें कि उनके चिंतन-मनन की दुनिया में बेग़मपुरा नामक एक शहर है। यह ऐसा शहर है जहां दुख का अंदेशा तक नहीं है। इसलिए रैदास बेग़मपुरा जाने की बात करते हैं। वे दुख के कारणों को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि यहां किसी प्रकार का गैर-कानूनी टैक्स (संभवत: जजिया जो गैर-मुस्लिम से जबरन वसूला जाता था और इसे अदा न कर पाने की स्थिति में व्यक्ति को अनेक प्रकार की यातनाओं से गुजरना पड़ता था) नहीं है और न ही यहां जमीन और माल के उत्पादन पर कोई टैक्स है। यहां वैचारिक अभिव्यक्ति की ऐसी स्वतंत्रता है कि बोलने से

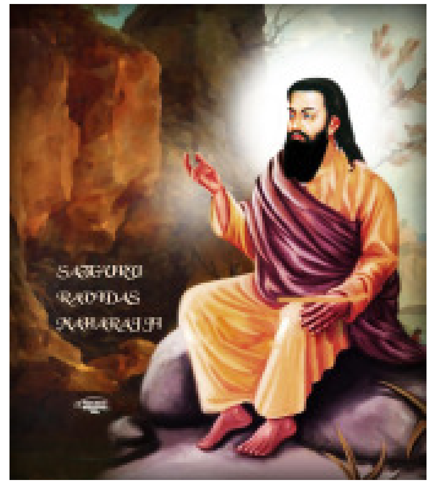

जन रैदास

होने वाले किसी अपराध के भय से जुबान तरसती नहीं है यानी बेग़मपुरा में अपनी बात कहने के लिए या किसी संबंध में कोई प्रतिक्रिया देने के मामले में किसी से डरने की जरूरत नहीं है।

रैदास आगे बताते हैं कि अब मुझे अपनाने या रहने लायक एक बेहतरीन वतन का पता चल गया है। वहां सभी मेरे भाई अमनचैन से रह सकते हैं। वहां पर किसी एक कौम को शासन नहीं है और न ही वहां कोई भेदभाव ही चलता है। जैसाकि हमारे यहां काम और दाम का निर्धारण शासक की कौम की इच्छानुसार चलता है जिसमें कदम-कदम पर छल-कपट की भरमार है। यहां कौम के शासन व छल-कपट से संत रैदास का आशय जातीय ऊंच-नीच व धार्मिक भेदभाव हो सकता है। जिस शहर की बात संत रैदास बात कर रहे हैं उनकी मान्यता है कि वहां व्यक्ति के योगदान की कदर होगी और अच्छे कार्य के लिए व्यक्ति को पुरस्कार व शौहरत मिलेगी, इसलिए वे आगे बताते हैं कि यह

ऐसी व्यवस्था होगी जहां गुणवान और मर्मज्ञ लोगों का निवास होगा।

जाहिर है, रैदास का काल जातीय व धार्मिक छल-कपट से परिपूर्ण रहा होगा और वहां न व्यक्ति के योगदान को महत्व होगा और न ही गुणवान और मर्मज्ञ लोगों की कद्र ही रही होगी। साफ है कि उस काल में श्रेष्ठता व निकृष्टता का पैमाना भी कौम के आधार पर तय होता होगा। यहां कौम का संबंध इस्लामी शासकों से है। बाबा साहब स्वयं ब्राह्मणों के ऐसे ही दोहरे मानदंडों की बात अनेक बार विस्तार से और उदाहरण सहित कर चुके हैं। कह सकते हैं कि रैदास को ऐसी खामियों के नायाब विकल्प के रूप में 'बेग़मपुरा' की घोषणा करनी पड़ी।

रैदास का दुख इतने तक सीमित नहीं था। इसलिए रैदास ने अपने दुख के शमन के लिए इच्छानुसार सैर या भ्रमण करने की स्वतंत्रता की बात आगे बढ़ाई। संभवत: वहां सैर और भ्रमण की वैसी सुविधा नहीं होंगी, जैसी संत रैदास व्यक्ति के लिए जरूरी समझते थे। आज इस भ्रमण और सैर का संबंध भारतीय संविधान द्वारा प्रदत्त मौलिक अधिकारों के रूप में व्यक्त उस अवधारणा से मेल खाता है, जिसके अनुसार देश के प्रत्येक नागरिक को अपने देश में कहीं भी आने-जाने, जमीन-जायदाद खरीदने और निवास करने की आजादी है। संत रैदास इस भ्रमण या सैर की अवधारणा को विस्तार देते हुए कहते हैं कि बेग़मपुरा में इबादतगाह में किन्हीं महलों जैसी किलेबंदी नहीं होगी यानी शासक और धर्मगुरु किन्हीं विशेषाधिकारों से लैस नहीं होंगे; वे सभी आम आदमी की पहुंच से बाहर नहीं होंगे।

अपनी कविता के अंत में रैदास बड़े आत्मविश्वास के साथ अपनी पहचान को जग जाहिर करते हुए बताते हैं कि यह कोई और नहीं कह रहा है बल्कि खलास चमारा यानी विशुद्ध रूप से एक चमार जाति का सामान्य व्यक्ति कह रहा है और यह दावा कर रहा है कि जो व्यक्ति ऐसे शहर के पक्ष में है वही हमारा मीत है। जो इसके पक्ष में नहीं हैं यानी जो बर्बर सत्ता या अलौकतांत्रिक समाज के साथ हैं, वे हमारे मीत नहीं हैं। मुझे ऐसा लगता है यहां मसला रैदास के प्रिय, चहेते या कृपापात्र हो जाने तक सीमित नहीं है। यह मीत हो जाना रैदास जैसी विचारधारा की ब्रोडर यूनिटी का हिस्सा हो जाना है, जिसके दम पर सत्ता पर दबाव बनाया जा सके और अन्यायपूर्ण व्यवस्था को हतोत्साहित किया जा सके।

अगर यह कहा जाए कि बेग़मपुरा की घोषणा, सत्ता व समाज परिवर्तन का एक घोषणा-पत्र जैसा है तो इसे पूरी तरह नकारा नहीं जा सकता। दरअसल, उस जमाने में तख्तापलट जैसी परिस्थितियां नहीं थी और न ही किसी विदेशी सहयोग जैसा प्रचलन ही उस जमाने था। अगर ऐसी थोड़ी-बहुत कुछ संभावनाएं थी, तो वे संत रैदास जैसे व्यक्ति की पहुंच से बाहर थी। स्पष्ट है कि 'बेग़मपुरा' शहर या राज्य की अवधारणा तक सीमित नहीं है, जहां संत रैदास जाना चाहते हैं। मेरी प्रबल मान्यता है कि यह संत रैदास की सत्ता व बर्बर समाज को अप्रत्यक्ष चुनौती थी।

इस हकीकत से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि बिना सत्ता परिवर्तन के बेग़मपुरा जैसी लोकतांत्रिक व लोक-कल्याणकारी व्यवस्था संभव नहीं है। इसलिए कहने में संकोच नहीं कि संत रैदास ने बेग़मपुरा शहर की कल्पना ही नहीं की थी, बल्कि सत्ता व समाज परिवर्तन का ब्लूप्रिंट तैयार किया था। ऐसे ब्लूप्रिंट की आज भी जरूरत है और इसे हकीकत का जामा पहनाने की भी, लेकिन लगता है कि आज की पीढ़ी ने गुलामी को दिल से अंगीकार कर लिया है और उसमें संत रैदास जैसा सपना देखने तक की कुव्वत शेष नहीं रह गई है।

मुझे लगता है कि पाठकों को यह भी जानना जरूरी है कि बेग़मपुरा की अवधारणा का जन्म यूं ही बैठे-बिठाए मौज-मस्ती में क्षणिक ही हो गया होगा। इस बिंदु पर सहमति-असहमति के अनेक पक्ष हो सकते हैं लेकिन मैं मेरी निजी मान्यता है कि बेग़मपुरा संत रैदास की लम्बे। अरसे से दुख को झेलने का परिणाम है। संत रैदास द्वारा प्रस्तुत इसके विकल्प को लंबे चिंतन-मनन के परिणाम के रूप में देखा जाना चाहिए। इस दुख यानी अव्यवस्था को समझने के लिए संत रैदास के विभिन्न मुद्दों पर अभि-व्यक्त विचार से रूबरू होना पड़ेगा।

बेग़मपुरा को बर्बर सत्ता के तख्तापलट का रूप अख्तियार करने के पीछे संत रैदास की जो पहली पीड़ा है वह जातिवाद के दंश को लेकर है। समाज की तथाकथित निचली जातियां यह दंश हिंदुओं के स्तर पर ही नहीं झेलती थी, बल्कि

मुसलमानों के स्तर पर भी झेलने को बाध्य थी। इस जातीय दंश को संत रैदास कुछ इस प्रकार बयांन करते हैं-

जात-जात में जात है, ज्यों केलन में पात।
रैदास न मानुष्य जुड़ सके, ज्यों लौ जात न जात।।
जात-जात के फेर महि, उरझी रहई सब लोग।
मानुषता को खात है, रैदास जात का रोग।।

उपरोक्त लाइनों में संत रैदास द्वारा व्यक्त जातियों की विभीषिका को आसानी से समझा जा सकता है। वे जातीय संरचना की तुलना केले पत्तों से करते हैं। जब हम केले एक पत्ते को अलग करते रहते हैं तो दूसरा निकल आता है फिर तीसरा और नए पत्ते निकलने का सिलसिला निरंतर चलता रहता है। संत रैदास का जातियों को केले के पत्तों से तुलना करने का आशय जातियों की संरचना को अंतहीन व कॉम्प्लेक्स संरचना के रूप में देखना था। संत रैदास कहते हैं कि मनुष्य का पूरा जीवन जाति के प्रपंचों में उलझ कर रह जाता है; और यह जाति का रोग इंसान से उसकी इंसानियत छीनकर उसे हैवान बनाता है। जाति की तत्कालीन परिस्थितियों के चलते संत रैदास मनुष्य को मनुष्य बनाए रखने और मनुष्यता के संरक्षण के लिए बेग़मपुरा जैसे सत्ता और समाज परिवर्तन जैसे टूल किट की खोज करते हैं।

एक ओर यहां जाति की परा-धीनता है। संत रैदास इसके अतिरिक्त एक दूसरी पराधीनता की बात करते हैं, जो जाति की समस्या के साथ-साथ अन्य बड़ी समस्याओं का जन्म देती है। यह समाज द्वारा पोषित नहीं, बल्कि राजनीतिक सत्ता द्वारा थोपी गई परा-धीनता होती है। इसके अपने अनेक प्रकार के खतरे हैं, मुसीबतें हैं। संत रैदास राजनीतिक पराधीनता को कुछ इस प्रकार साझा करते हैं-

पराधीन पाप है जान लेहू रे मीत।
'रैदास' दास पराधीन सो कौन करै है प्रीत।।
पराधीन कौ दीन क्या, पराधीन बे-दीन।
रैदास दास पराधीन कौ, सबहिसमझै हीन।।

उपरोक्त पंक्तियों से स्पष्ट है कि रैदास पराधीनता को पाप के रूप में देखते हैं, एक अपराध के रूप में देखते हैं। वे कहते हैं कि पराधीन व्यक्ति से कोई प्रीत नहीं करता है। जाहिर है, पराधीन व्यक्ति सभी प्रकार के भेदभाव का शिकार होता है। अपनी पीड़ा को मुखरता प्रदान करते हुए संत रैदास कहते हैं कि गुलाम व्यक्ति का कोई धर्म नहीं होता यानी उसके धर्म, उसकी मान्यताओं की कोई कद्र नहीं होती। गुलाम व्यक्ति को हमेशा छोटा समझा जाता है। इसी पराधीनता के चलते संत रैदास बेग़मपुरा में जमीन पर टैक्स, माल के उत्पादन पर टैक्स और सबसे अधिक पीड़ादायक टैक्स है 'जजिया'।

यह टैक्स सत्ताधारी इस्लाामिक मजहब के अतिरिक्त दूसरे मजहब के लोगों से लिया जाता था जिसकी अदायगी न होने की स्थिति में व्यक्ति को अनेक प्रकार से शारीरिक व मानसिक यातनाओं का सामना करना पड़ता था। इस टैक्स को गरीब हिंदुओं के इस्लाम में धर्मांतरण के औजार के रूप में देखा जाता है। दूसरे धर्मों को लूट के दम पर कमजोर व अस्थिर करने के रूप में देखा जा सकता है। इस संदर्भ में इस हकीकत से भी इंकार नहीं किया जा सकता कि गुलाम के रूप में जब व्यक्ति का कोई मान-सम्मान नहीं था उसके कार्यो का सम्मान कैसे हो सकता है। संत रैदास पराधीनता के उत्पन्न सारी पीड़ाओं से मुक्ति का मार्ग बेग़मपुरा में तलाशते है।

गौरतलब है, शोषण-उत्पीड़न के मामले में यदि सत्ता और बहुसंख्य क समाज का गठजोड़ हो जाता है, तो उत्पीड़ित की स्थिति बेहद दयनीय या यूं कहें कि असहनीय हो जाती है। यदि हम अभी पांच-सात वर्ष के भाजपाई कार्यकाल को देखें स्थितियां स्पष्ट हो जाती हैं। वर्तमान सत्ता द्वारा धार्मिक बहुलतावादी समाज की पीठ पर हाथ रखने के परिणाम हमारे सामने हैं। इतना ही नहीं नागरिकता संशोधन कानून और धारा 370 से जुड़े मसले ऐसे हैं जो सत्ताधारी समाज की तानाशाही में हिंदू बहुलतावादी समाज की निरंकुशता को पंख लगाते हैं, और साम्प्रदायिकता की आग में घी डालने का काम करते हैं।

संभवत: संत रैदास भी ऐसी ही विषम स्थितियों का सामना कर रहे हों, जिस प्रकार की परिस्थितियों का सामना आज का मुस्लिम, दलित व अन्य कमजोर वर्ग कर रहे हैं; यानी अपने आप को असुरक्षित व भयभीत महसूस कर रहे हैं। इसलिए मुझे लगता हे कि बर्बर सत्ता और बहुलतावाद की जुगलबंदी के नेक्सस को तोड़ने

के लिए 'बेग़मपुरा' से बेहतर और कोई दूसरा विकल्प नहीं हो सकता। मुझे लगता है हमें बेग़मपुरा को पराध ीनता की बेड़ियों को खोलने वाली चाबी या बेड़ियां तोड़ने के रूप में देखे जाने की जरूरत है, न कि इसे किसी शहर या राज्य की अवधारणा के रूप में। सत्ता परिवर्तन या सत्ता और समाज की मानसिकता परिवर्तन के बिना अन्य किसी चाहत के कोई मायने ही नहीं रह जाते।

अगर हम संत रैदास के काल की परिस्थितियों की रोशनी में वर्तमान परिस्थितियों पर गंभीरता से दृष्टिपात करें तो पाते हैं कि आज की सरकारी नीतियां गरीब विरोधी हैं। इन नीतियों से दलित-शोषित व मुस्लिम जो अधिकतर गरीब हैं, ज्यादा बुरी तरह प्रभावित नजर आते हैं। यदि संत रैदास के चिंतन-दर्शन को मार्क्सवादी नजरिए से देखें तो 'अमीर' एक कौम में तब्दील नजर आती है और दूसरी कौम 'गरीब'। गरीबों की दुर्दशा का मंजर देखने के लिए पहले नोटबंदी को देखा जा सकता है, जिसमें लाखों लोगों के व्यवसाय तबाह हो गए और सैंकड़ों की संख्या में असामयिक मौत भी किसी से छिपी नहीं हैं। दूसरे ऐपीसोड के रूप में कोरोना की पहली लहर के दौरान मजदूरों क पलायन, उनकी भयंकर दुर्दशा और सैंकड़ों दर्दनाक मौतों के रूप में देखा जा सकता है।

इस दौरान न कहीं सरकार नजर आती है और न ही गरीबों की आखिरी उम्मीद-'अदालतें'। यह पराधीनता जैसी स्थिति की ओर संकेत करती है। कोरोना की तीसरी लहर का कहर ऐसा बेकाबू हुआ कि इसने आज की सारी हदों को ही पार कर दिया। यहां मुद्दा वर्तमान हालात की समीक्षा करना नहीं है बल्कि इन्हें पराधीनता के साथ तुलनात्मक अध्ययन के रूप में ठीक से समझना है ताकि संत रैदास के काल और वर्तमान पीड़ित समाज की मनस्थिति को समझा जा सके और पराधीनता से मुक्ति के लिए बेग़मपुरा जैसे किसी मार्ग की तलाश की जा सके।

जब संत रैदास 'कौम की सत्ता' और सामाजिक असमानता से आजादी का ब्लूप्रिंट को तो 'बेग़मपुरा' के रूप में पेश कर देते हैं लेकिन बेग़मपुरा में लोगों की जीवन शैली और क्रियाकलापों के विस्तार से जुड़े अन्य पहलुओं को खुलासा होना भी बेहद जरूरी है; तभी तो संत रैदास के मीत लोगों की संख्या में इजाफा होगा और स्वतंत्रता का सपना साकार होगा। इसके लिए सबसे पहले धर्म की स्थिति स्पष्ट होना जरूरी है। सत्तासीन कौम का अपना धर्म होता है। जिस धर्म के व्यक्तियों के हाथ में सत्ता होती है, आमतौर पर उसका अपना एक हिडन ऐजेंडा होता है। वे अपने धर्म को प्रोत्साहित करते हैं और दूसरे धर्मों को हतोत्साहित।

ऐसी परिस्थितियां विभिन्न धर्मों की अपनी सत्ता और धर्म की राजनीति विभिन्न धर्मों को सत्ता के सामने लाकर खड़ा कर देते हैं। इसके बाद अपने-अपने धर्म की श्रेष्ठता सिद्ध करने की जंग शुरू होती है। यह भी तय ही है कि जंग में किसी का भला नहीं होता और जाने-अनजाने सभी इंसानियत की जंग हार जाते हैं। कहने की जरूरत नहीं कि उस दौर में भी धर्म की इस जंग में हिंदू और मुस्लिम दो विरोधी पार्टियां आमने-सामने थी और आज भी ये दोनों ही आमने-सामने खड़े नजर आते हैं। फर्क इतना है कि पहले सत्ता मुसलमानों के हाथ में थी और कह सकते हैं कि आज यह सत्ता हिंदुओं के हाथ में है। उस समय की जंग को विराम देने की गरज से संत रैदास कहते हैं—

मंदिर-मस्जिद एक हैं, इन मह अंतर नाहिं।
रैदास राम-रहमान का, झगड़ऊ कोऊ नाहिं।।
धरम की कोई जाति नाहिं, न धर्म जाति के माहिं।
रैदास सो चले धर्म पर, करेगे धरम सहाय।।

जाहिर है, संत रैदास हिंदू और मुस्लिम दोनों से अपनी अलग राय रखते हैं। इसलिए वे जहां एक ओर कौम के शासन की कुरूपता को बेनकाब करते हैं, वही दूसरी ओर वे मंदिर-मस्जिद व राम-रहीम के झगड़े की आग में पानी डालने का काम करते हैं। वे तथागत बुद्ध की तर्ज पर व्यक्ति को अपना दीपक खुद बनने की सीख देने की गरज से बताते हैं कि धर्म की न कोई जाति होती है और जाति का कोई धर्म। यहां वे इंसानियत को इंसान के धर्म के रूप में देखते नजर आते हैं और इसे ही असली धर्म-कर्म के मार्ग के रूप में देखते हैं। संत रैदास बेग़मपुरा में जात-ध र्म के कोढ़ और इसकी खाज से मुक्त रखने के पक्षधर हैं क्यों कि ये विवादों को जन्मत देते हैं और इंसान प्रगति व

खुशहाली में बाधक हैं।

हम इस बात से भली-भांति परिचित हैं लेकिन आज भी यह कोढ़ हमारा पीछा नहीं छोड़ रहा है। भले ही आज हम लोकतांत्रिक व्यवस्था में रह रहे हैं जहां जातिवाद व साम्प्रदायिकता के लिए कोई जगह नहीं है, लेकिन हम जातिवाद और सम्प्रदायवाद के कोढ़ से मुक्त नहीं हैं। आज सत्ता हिंदू बहुल वर्ग के हाथ में है, जिसके चलते हम आज भी हिंदू-मुस्लिम भावनाओं को भड़काकर अपनी सत्ता पर काबिज रहना चाहते हैं। धर्म और जाति का घिनौने खेल समाज और राजनीति में जमकर खेला जा रहा है। संत रैदास इसे बेग़मपुरा में एकदम वर्जित करार देते हैं। यह उनके चिंतन-दर्शन के धर्म-निरपेक्ष चरित्र से साक्षात्कार कराता है और इसे अनुकरणीय बताता है, जिसमें सभी के हित सुरक्षित हैं।

संत रैदास का बेग़मपुरा एक प्रकार से सत्ता व समाज के प्रति विद्रोह का बिगुल फूंकने जैसा है और दोनों को परास्त कर अपना नया शहर यानी अपना नया संसार बनाने जैसा है। मान लो संत रैदास का बेग़मपुरा तो बन गया; उसमें शासन व समाज की कुरीतियों के लिए कोई जगह नहीं है, लेकिन इस बेग़मपुरा में रहने वालों के जीवनयापन की शैली का उल्लेख बेग़मपुरा नामक कविता में मौजूद नहीं है। यदि यह कहा जाए कि बेग़मपुरा में व्यक्तियों की जीवनयापन की शैली के अभाव में यह विद्रोह अधूरा है, तो गलत नहीं होगा। मगर इसकी पूर्ति के लिए संत रैदास अपने विचार अन्य स्थानों पर व्यक्त, करते हैं जो जीवनयापन की शैली के संबंध में बेग़मपुरा की पूर्णता के मार्ग में आने वाली बाधा को दूर करने में सक्षम है। संत रैदास के अनुसार—

रैदास स्रम करि खाइए, जौ लौ पार बसाय।
नेक कमाई, जो करहूं, कबहूं न निहफल जाय ।।
स्रम को ईसर जानि के, जऊ पूजहिं दिन रैन।
रैदास तिम्हाहि संसार में, सदा मिलिहिं सुख चैन।।

यहां संत रैदास का फोकस कमा कर खाने से है। वो कहते हैं कि जब तक व्यक्ति के वश चले उसे कमाकर खाना चाहिए। वो परिश्रम और ईमानदारी से की गई कमाई को नेक कमाई कहते हैं। वे अपने अनुभव से दावा करते हैं कि यह मेहनत की कमाई कभी व्यर्थ नहीं जाती।

संत रैदास इससे एक कदम और आगे बढ़कर इस नेक कमाई के लिए किए गए श्रम को ईश्वर की संज्ञा देते हैं। वे दिन-रात इसकी पूजा की बात करते हैं। यहां पूजा का संबंध सर्वोच्च सम्मान से है। वे श्रम को सर्वोच्च सम्मान से भी और अधिक ऊंचे पायदान पर रखकर श्रम को पवित्रता का जामा पहनाते हैं। संत रैदास इतने पर ही नहीं रुकते वह घोषणा करते हैं कि संसार में सुख-चैन का इससे बेहतर कोई विकल्प नहीं है।

यह बेहद सुकून का विषय है कि रैदास पूजा पाठ की परजीवी संस्कृति को श्रम से रिप्लेस कर एक महान क्रांतिकारी काम करते हैं। जहां भी वे अपने राम का जिक्र करते हैं कि हमें यह मानकर चलना चाहिए कि उनका राम दशरथ सुत नहीं है। यह राम हमारे शरीर में रमा हुआ है और शरीर में ही क्यूं यह पूरे संसार में विद्यमान है। मुझे लगता है कि संत रैदास के राम और ईश्वर दोनों श्रम के पर्याय हैं और इसके अतिरिक्त और कोई नहीं।

रैदास हमारो राम जी, दशरथ करि सुत नाहिं।
राम हमउ महिं रमि, विसव कुटुंब हमाहि।।

संत रैदास की यह अवधारणा हमें चार्वाक व लोकायत संस्कृति की गोद में लाकर बैठा देती है; जिसका अनुगामी जन आजीवक है। यह लोकायत/चार्वाक संस्कृति भी पूरी तरह प्रकृति और व्यक्ति के श्रम यानी पुरुषार्थ पर टिकी है। इसके अनुसार— 'लोकायत-सिद्धांत अनुगामी जन ही 'आजीवक' नाम से इसलिए अभिहित होते थे कि शरीरात्मवादी होने के कारण शरीर के सदुपयोगार्थ, उसकी रक्षा के लिए आजीवक को, अर्थात श्रमात्मक आजीविका को, वे मुख्य कर्तव्य के रूप में अपनाते थे। एतदतरिक्त यह भी कारण था आजीवक नाम से उनके पुकारे जाने का, कि वे श्रमोपयोगी स्वास्थ्य के लिए सदा सचेष्ट रहते थे, क्योंकि आजीवक का दूसरा अर्थ, पूर्ण रूप से जीवन का अर्थात स्वास्थ्य जीवन का संपादन भी होता है। शरीर को आत्मा मानने वाले अपने स्वास्थ्य-स्वरूप जीवन के संपादन में सर्वथा सचेष्ट हों, यह सर्वथा युक्तिसंगत ही है। इन सारी

बातों पर ध्यान देने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह दर्शन जन-जीवन से घनिष्ठता रखने वाले कृषि, पशुपालन, वाणिज्य आदि, राजनीति-स्वरूप दण्डनीति और स्वास्थ्यप्रद आयुर्वेद इन तीनों से पूर्ण रूप से सम्बद्ध था।' (आचार्य आनंद झा, चार्वाक दर्शन (दूसरा संस्करण 1983) नामक पुस्तक का प्राक्कथन, पृ. 8-9)

आजकल हमारे यहां वैज्ञानिक टेम्परॅमेंट का नारा खूब उछाला जाता है लेकिन खेद के साथ कहना पड़ता है कि व्यवहार से इसका कोई लेना-देना नहीं है। वैज्ञानिक टेम्पारॅमेंट का नारा देने वाले कभी गणेश की गर्दन पर हाथी के सिर लगाने को जस्टिफाई करने लगते हैं, कभी रावण के दस मुंह, हनुमान को वायु से पैदा होने, हनुमान के पसीने से मछली के पेट से हनुमान का बेटे का पैदा हो जाता है... ये उदाहरण तो अंधविश्वास के समुद्र से चुल्लूभर पानी जैसा है वरना इनकी संख्या अथाह है, जो समाज को कोल्हू का बैल जैसा बनाकर छोड़ देता है। खैर...

मुझे लगता है संत रैदास का बेग़मपुरा वर्तमान अंधविश्वास से कोई मेल नहीं खाता। संत रैदास अपने तर्क-विवेक के आलोक में इसे परिभाषित करते हुए कहते हैं—

'चख-विहीन कर तारिचलतु हैं
तिनहि न अस भुज दीजे।'

अद्भुत तर्क है संत रैदास के पास। वे वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विहीन यानी अंधभक्तों को दृष्टि बाधित लोगों की जमात समझते हैं। वे अपने आपको यानी बेग़मपुरा के निवासी जो बेग़मपुरा की अवधारणा के पक्षधर और संत रैदास के अनुसार उनके मीत हैं, को इस दृष्टि बाधित लोगों की जमात से अलग मानते हैं। वे कहते हैं कि दृष्टि बाधित लोग जिस प्रकार एक दूसरे की बांह पकड़कर और लाइन बनाकर चलते हैं, उस प्रकार मैं अपनी बांह किसी के हाथ में नहीं देने वाला। यह बात धर्म, राजनीति और जीवन से जुड़े प्रत्येरक क्रियाकलाप से जुड़ती है, जिसपर संदेह करने के लिए कोई जगह नहीं है। स्पष्ट है कि वे अपने तर्क-विवेक को प्राथमिकता प्रदान करते हैं और अपने मार्ग स्वयं ईजाद करने के पक्षधर हैं। जाहिर है, रैदास के बेग़मपुरा में तो वही चलेगा जो संत रैदास और उनके मीत यानी चाहने वालों के तर्क-विवेक की कसौटी पर खरा उतरेगा।

बेग़मपुरा को लेकर एक अजीब-सा भ्रम पैदा होता है कि संत रैदास किसी शहर की बात कर रहे हैं जिसका नाम वे बेग़मपुरा बताते हैं। लेकिन मैं शुरू से मानकर चल रहा हूं कि यह बेग़मपुरा एक अकेला शहर नहीं है बल्कि शहरों और गांवों का समुच्चय है, जिससे मिलकर एक देश बनता है, राज्य बनता है। इससे भी बढ़कर संत रैदास का मुद्दा देश या राज्य की भौगोलिक सीमाओं तक सीमित नहीं है। इसका सीधा संबंध राज्य, के अंदर लोगों का जीवन कैसा होगा, इस पर अधिक फोकस करता है। जब हम संत रैदास के वैचारिक वन-उपवन की सैर करते हुए आगे बढ़ते हैं तो सारे भ्रम को तोड़ने वाले और मंजिल के निष्कर्षों पर पहुंचाने वाले एक विशाल दरख़्त का दीदार होता है। इसे बेग़मपुरा की सारी भागदौड़ की दूसरी पंच-लाइन भी कह सकते हैं, क्योंकि पहली पंच लाइन तो बेग़मपुरा कोई शहर या राज्य तक सीमित नहीं बल्कि सत्ता व समाज परिवर्तन का ब्लूप्रिंट है। यह दूसरी पंच-लाइन कुछ इस प्रकार है—

'ऐसा चाहो राज्य में, जहां मिलै सबन को अन्न।
छोट-बड़ो सब सम बसै, रैदास रहे प्रसन्न।।'

स्पष्ट है कि संत रैदास तर्क-विवेक और वैचारिक महासागर में गोता लगाने वाली कोई साधारण प्रतिभा नहीं हैं। वे एक गंभीर, ईमानदार व जिम्मेदार नागरिक हैं। तभी तो वे सारे गांव और शहर के सारे भ्रम को एक झटके में तोड़ देते हैं और अपनी अभिलाषा का खुलासा इन दो लाइनों में कर डालते हैं। संत रैदास सबसे पहली ख्वाहिश बताते हैं कि वो ऐसा राज्य चाहते हैं कि जहां सभी को अन्न यानी पर्याप्त खाद्य सामग्री उपलब्ध हो। इसे व्यापक अर्थों में देखें तो पाते हैं कि संत रैदास यहां व्यक्ति की मूलभूत भौतिक आवश्य-कताओं व सुख-सुविधाओं की बात कर रहे हैं।

इस अभिलाषा की दूसरी कड़ी नागरिकों के समान रूप से बसने की बात करती है; अर्थात समता, स्व तंत्रता और बंधुत्व की ओर संकेत देती है, जहां कोई भी छोटा-बड़ा नहीं होगा यानी सभी लोग समान होंगे। जाहिर है, समानता की अवस्था में ही भाईचारे का मार्ग प्रशस्त होता है। जब समानता और भाईचारे का माहौल होगा तब न तो बोलना कोई अपराध होगा और न जुबान को किसी

''वे बेग़मपुरा बर्बर व पूर्वाग्रही सत्ता के परिवर्तन का ब्लूप्रिंट तैयार ही नहीं करते बल्कि अपनी वैचारिक तर्क-शक्ति से समाज परिवर्तन का ब्लू प्रिंट भी तैयार करते हैं''

अपराध के डर से मूक रहकर तरसना पड़ेगा। इस स्थिति को संत रैदास प्रसन्नता की संज्ञा देते हैं। यहां यह प्रसन्नता साधारण नहीं है, बल्कि परम–आनंद वाली अनुभूति है।

उपरोक्त चर्चा से साफ है कि बेग़मपुरा के अस्तित्व में आने के पीछे तथागत बुद्ध के पटिच्चसमुप्पाद का सिद्धांत काम करता है। इसके चलते संत रैदास परिस्थितियों का अपने तर्क–विवेक के आधार पर अवलोकन करते हैं, तथ्यों का मूल्यांकन करते हैं और बेग़मपुरा के रूप में अपनी रणनीति को अंतिम रूप दे देते हैं। संत रैदास शून्य रूपी घटनाओं को अपने कर्म और विपाक (कर्म का परिणाम) के रूप बेग़मपुरा का मार्ग प्रशस्त करते हैं। बेग़मपुरा बर्बर व पूर्वाग्रही सत्ता के परिवर्तन का ब्लूप्रिंट तैयार ही नहीं करता, बल्कि अपनी वैचारिक तर्क–शक्ति से समाज परिवर्तन का भी ब्लू प्रिंट तैयार करते हैं, जिसमें संत रैदास के मीत लोग निरंतर बेग़मपुरा की ओर आकर्षित होंगे।

यदि हम संत रैदास के बेग़मपुरा को समसामयिक संदर्भ में देखें तो ऐसा नहीं लगात कि आज बेग़मपुरा जैसी अवधारणा विलुप्त हो गई है, या इस नजरिए से सोचने वालों का अकाल पड़ गया है। आज इसे गांवों की ओर से शहरों की ओर पलायन के रूप में देखा जा सकता है। यहां परिवार का कोई भी व्यक्ति या व्यक्तियों का समूह अपनी आर्थिक व भौतिक जरूरतों की पूर्ति के लिए अपना बेग़मपुरा चुनता है। इस पलायन के पीछे व्यक्ति अपने दुख, अपनी समस्याएं और अपने गम से मुक्ति मात्र एक विकल्प होता है। यह अलग बात है कि व्यक्ति अपना बेग़मपुरा गांव में बनाता है या पूरे परिवार सहित किसी शहर या कस्बे में पलायन कर वहां अपना बेग़मपुरा बनाता है। इसी तर्ज पर कोई अपना बेग़मपुरा विदेश में भी बना सकता है और बहुत सारे लोगों ने बनाए हुए भी हैं।

कुछ लोगों का अपने गम दूर करने का साधन शराब की शरण में जाना हो सकता है और अन्य किसी के लिए नशे के कैसे भी मार्ग खोल सकता है। कोई अपने गमों को दूर करने के लिए अनैतिक क्रियाकलाप अपना सकता है और नए गमों के लिए जमीन तैयार कर सकता है। कुछ लोग भक्ति को अपना बेग़मपुरा बना सकता है और इसका कैसा भी प्रयोग कर सकता है। कुछ लोग गमों और दुखों से मुक्ति के लिए आत्महत्या तक कर डालते हैं और इस संसार के गमों से मुक्त हो जाते हैं। यह अलग बात है कि ऐसे लोग खुद तो शायद मुक्त हो जाते हैं, लेकिन वे अपनों के लिए गमों का संसार बसा जाते हैं। अगर एक लाइन में कहूं तो यह सारा खेल निजता का है और निजता के अतिरिक्त कुछ नहीं। आज के तथाकथित साधु, संतों और बाबाओं के बारे में उनके बेग़मपुरा के बारे में पहले टिप्पणी कर चुका हूं, इसलिए यहां टिप्पाणी करना उचित नहीं है।

अंत में लाख टके का सवाल अभी भी मौजूद है कि इतने सारे बेग़मपुरा हो सकते हैं, तो ऐसा खास क्या है जो संत रैदास को चर्चा के केन्द्र में लाता है और उनके चिंतन–दर्शन पर बात करने को विवश करता है। निस्संदेह यह महत्वपूर्ण सवाल है, इस पर भी चर्चा होनी चाहिए। दरअसल, अकेला तो कोई पशु भी जैसे–तैसे अपना जीवनयापन कर लेता है, लेकिन लोक–कल्याण के लिए जीना या सामूहिक बेहतरी के साथ जीवनयापन करना इंसानों का काम है। यह लोक–कल्याण व सामूहिक बेहतरी की अवधारणा ही इंसान को जानवर से अलग करता है। संत रैदास की सामूहिक कल्याण की अवधारणा यानी बेग़मपुरा संत रैदास के कद को विशाल ऊंचाइयां प्रदान करता है। संत रैदास का सत्ता को चुनौती देना और पूरे समाज में अमूलचूल परिवर्तन की दिशा में संघर्षरत होना संत रैदास को साहसी और प्रासंगिक ही नहीं बनाता, बल्कि अनुकरणीय भी बनाता है। संत रैदास का चिंतन–दर्शन इतना व्यापक है कि मुझ जैसे साधारण से व्यक्ति लिए अंजुलीभर निकाल पाना दुर्लभ कार्य है। मैंने सिर्फ बेग़मपुरा की अवधारणा को लेकर एक साधारण–सा प्रयास किया है। शेष इस विषय के विशेषज्ञों पर निर्भर करेगा कि वे बेग़मपुरा की अवधारणा को किस रूप में देखते हैं।

सीधा संवाद

संत रैदास का काव्य
वर्ण व जाति के प्रशन

प्रो. महेंद्र सिंह बेनीवाल

जन्मः
1 अक्तूबर 1967

शिक्षाः
एम.ए. एम.फिल. (प्रथम श्रेणी)
पीएच.डी, दिल्ली विश्वविद्यालय

संप्रति : प्रोफेसर हिंदी विभाग,
राजधानी कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय

विशेष :
पूर्व अध्यक्ष, दलित लेखक संघ

सम्मान
ओम प्रकाश वाल्मीकि साहित्य सम्मान,
बाबा साहब डॉ. आंबेडकर राष्ट्रीय भूषण सम्मान

कृतिः
काव्य संग्रह कब तक मारे जाओगे

संपादन सहयोग
'कल के लिए' दलित साहित्य
18 शोध पत्र प्रकाशित

भारतीय समाज भारत में आदिम युग से रहने वाली और समय-समय पर बाहर से आनेवाली विदेशी जातियों के परस्पर संघर्ष, विरोध और सहयोग से निर्मित हुआ है। बाहर से आने वाली नस्लों के साथ यहां के लोगों के काफी लंबे संघर्ष चले, जिसके कारण विजेता और विजित, श्रेष्ठ और निकृष्ट की व्यवस्था प्रारंभ हुई। पराजित, विजित जातियों के प्रति निकृष्टता, घृणा का भाव विजेताओं के मन में बना और यह भाव आज तक बना हुआ है जिससे लगता है, वे संघर्ष आज भी जारी हैं। देखा गया है कि समाज में बहने वाले ये विचार लिपिबद्ध होकर बाद में ग्रंथों में समा गये।

भारतीय समाज-व्यवस्था में वर्ण और जाति

भारत में बाहर से आनेवाली जिन जातियों का नाम लिया जाता है उनमें आर्य, ईरानी, युनानी, पाथियन, वेक्ट्रियन, सिदियन, हूण, शक, कुषाण, तुर्क, ईसाई, यहूदी और पारसी इत्यादि के नाम मुख्य हैं। ऐसा माना जाता है कि भारतीय समाज व्यवस्था के निर्माण में आर्यों की भूमिका निर्णायक रही। कहा जाता है आर्यों ने अनार्यों को पराजित कर अपना दास बना लिया। यहां समाज स्पष्ट रूप से दो भागों में विभाजित हो गया। दासों को ही आगे चलकर शूद्र कहा गया। जिनका उल्लेख वैदिक, ब्राह्मण, उपनिषद, स्मृति, महाकाव्य और पुराण आदि ग्रंथों में मिलता है। भारत का समाज चार वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में विभाजित हो गया जिसे 'वर्णव्यवस्था' के नाम से जाना गया। आगे चलकर यही 'वर्ण व्यवस्था' जन्म के साथ नाभिनाल होकर 'जाति व्यवस्था' में तब्दील हो गई।

वर्णव्यवस्था की उत्पत्ति को कुछ लोग 'आवश्यक श्रम विभाजन' तो कुछ लोग इसे 'शोषक वर्ग के षड्यंत्र' के रूप में देखते हैं। कुछ इसे जन्म के आधार पर तो कुछ कर्म के आधार पर इसकी उत्पत्ति मानते हैं। वर्णव्यवस्था का प्रथम उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है। लेकिन इस उल्लेख को

डॉ. आंबेडकर, रामशरण शर्मा एवं पी. वी.काणे प्रक्षिप्त मानते हैं। काणे का मानना है- "ऋग्वेद में पुरुषसूक्त को छोड़कर कहीं भी वैश्य एवं शूद्र शब्द नहीं आये हैं।"[1]

उत्तर वैदिक काल में अन्य तीन वेदों की रचना हुई। यजुर्वेद,अथर्ववेद, सामवेद ब्राह्मण, धर्मसूत्र, स्मृति आदि की रचना हुई। वर्णव्यवस्था को इसी युग में परिपक्वता मिली। मनुष्य के ही नहीं देवताओं और ऋतुओं के भी वर्ण निश्चित किए गये। आगे चलकर शूद्रों को भी बहिष्कृत एवं अबहिष्कृत शूद्र में बांटा गया। इन्हें ही ज्योतिबा फूले ने शूद्र-अतिशूद्र कहा। शूद्रों के खिलाफ घृणा का प्रचार लगातार होता रहा। प्राचीन महाकाव्यों में भी इसके उल्लेख मिलते हैं। शूद्रों को राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक अधिकारों से वंचित कर दिया गया। जाति के आधार पर भी उन्हें हर तरह से वंचित रखा गया। डॉ. तेजसिंह का कहना है—"जाति का केवल सामाजिक आधार ही नहीं है उसका आर्थिक आधार भी है जो पूरी सामाजिक संस्था में व्याप्त है।"[2] शुंग, कण्व, सातवाहन, गुप्त वंश में शूद्रों की स्थिति पीड़ादायी ही रही।

इस्लाम का आगमन और जातिव्यवस्था

इस्लाम समानतावादी धर्म था जिसमें जाति भेद, वर्णभेद, खानपान और अन्तर्जातीय विवाह पर प्रतिबंध नहीं था। इस्लाम से पहले जो आक्रमणकारी आये उन्होंने भारत के धर्म को स्वीकार कर लिया लेकिन मुसलमानों के पास मजबूत धर्म संस्कृति थी इसलिए इसे हिन्दू धर्म पचा नहीं पाया। डॉ. नर्मदेश्वर प्रसाद का मानना है "हिंदू समाज ने शकों, हुणों और कुषाणों को पचा लिया, किन्तु मुसलमानों को नहीं पचा सका।"[3] लेकिन इस्लाम भी भारत में अपने वास्तविक रूप में नहीं रह सका उसमें अछूतपन तो नहीं, लेकिन जाति व्यवस्था ने अपनी जड़ बना ली। मुसलमानों के कारण भी जातियों की संख्या बढ़ी कुछ अछूत जातियां भी इस काल में निर्मित हुई।

जाति व्यवस्था शासकों के लिए हमेशा मददगार रही है इसलिए इसे उन्होंने नहीं छेड़ा। तुर्क, अफगानों के कुछ हस्तक्षेप से नगर में बसने का और सेना में भर्ती होने का अधिकार शूद्र और अन्त्यजों को मिला। फिर भी बौद्ध धर्म के बाद इस्लाम दूसरा धर्म था जिसने अपने समानतावादी सिद्धांत के कारण दलित-पिछड़ी जातियों को आकर्षित किया।

भक्ति आंदोलन की उत्पत्ति और शूद्र-अतिशूद्र

भक्ति उत्पन्न तो दक्षिण में हुई लेकिन उत्तर भारत में इसने आंदोलन का रूप धारण किया। रामचन्द्र शुक्ल ने इसे हिंदुओं की 'पराजित मनोवृत्ति' से जोड़ा तो हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसे भारतीय चिंतनधारा का स्वाभाविक विकास कहा। विश्वनाथ त्रिपाठी ने इरफान हबीब के हवाले से बताया है— "नये शासकों की सत्ता स्थापित होने पर 13वीं और 14वीं शताब्दी में विलास सामग्री और सुविधाओं की मांग बढ़ी। केंद्रीय सत्ता स्थापित होने पर सड़कों भवनों का निर्माण तेजी से होने लगा। इस विलास सामग्री और सड़कों, भवनों आदि के निर्माण में तथाकथित नीची कही जाने वाली जातियों के लोग काम करते थे। इससे उनकी आर्थिक स्थिति बेहतर हुई। आर्थिक स्थिति बेहतर होने पर उनमें सामाजिक मर्यादा की भावना पैदा हुई। निर्गुण पंथ के उदय और उसमें तथाकथित नीची कही जाने वाली जातियों के संतों के इतनी अधिक संख्या में आने का कारण यही है।"[4]

इन निर्गुण संतों ने जाति-पांति, रूढ़ि, आडंबर, पाखण्डों पर जमकर प्रहार किये। ब्राह्मणवाद का पूरी तरह खंडन किया। कबीर ने स्वयं को जुलाहा और रैदास ने अपने को चमार कहकर जातिगत हीनता से मुक्त होने के संकेत दिये। कबीर ने—"ब्राह्मण गुरु जगत का साधु का गुरु नाही।"[5] कहकर ब्राह्मण वर्चस्व का खंडन किया।

संत कवि अधिकांश निम्न कही जाने वाली जातियों से आए थे। कबीर जुलाहा, रैदास चमार, दादूदयाल धुनिया, बुल्ला साहब कुनबी, दीन दरवेश लोहार, नामदेव छीपी, धन्ना जाट, इत्यादि जातियों से संबद्ध होने के कारण सभी ने जाति-पांति का खंडन किया है। इसलिए जाति का प्रश्न संत कवियों के यहां एक अहम प्रश्न बनकर आया है।

संत रैदास के काव्य में जाति और वर्ण का प्रश्न

संत काव्यधारा में रैदास का स्थान कबीर के बाद माना जाता है। उनका जन्म जिस अछूत जाति में हुआ उसको लेकर उनके मन में कोई हीनता नहीं है। झाली रानी और मीरा ने उनका शिष्यत्व ग्रहण किया था। मीरा ने अपने पदों में रैदास का उल्लेख किया है– "पीहर जाऊं न सासरे, नहीं पिया के पास, मीरा सरणै राम कै, म्हाने गुरु मिलिया रैदास।"[6]

माधव हाड़ा लिखते हैं– "*रैदास के मीरा के गुरु होने की लोक की धारणा सर्वथा निराधार नहीं है, जैसा कि कुछ लोग मानते है। उत्तर भारत के लोक की स्मृति में जिस तरह रैदास और मीरा के गुरु शिष्य संबंध की कहानियां प्रचलित हैं, उससे यह तो तय है कि मीरा किसी न किसी तरह रैदास से परिचित जरूर रही होंगी।*"[7]

रैदास को कबीर का समकालीन माना जाता है। रैदास ने कबीर को 'गुरु समान बड़ भ्राता' कहकर सम्मान दिया है। रैदास के 40 पद सिक्खों के धर्मग्रंथ 'गुरु ग्रंथ साहब' में संकलित हैं। कबीर और रैदास का गुणगान भी काफी हो रहा था जिससे तुलसीदास दु:खी हुए थे। डॉ. शुकदेव सिंह ने लिखा है– "*कबीर रैदास इत्यादि का गुणगान देखकर तुलसीदास को कष्ट हुआ था*' और उन्होंने '*प्राकृत जन कीन्हें गुणगाना, सिर धुनि गिरा लागि पछिताना*' जैसी पंक्ति लिखी। ...यह कैसा विचित्र संयोग है जिन संतों ने किसी का चरित्र नहीं लिखा 'चरित्र' और 'अवतार' को माया का खेल कहा, उन संतों के चरित लिखे गये। उन्हें अवतार और देवत्व से संबद्ध किया गया, लेकिन जिस तुलसीदास ने राम का चरित्रलिखा उनका 'चरित्र' किसी ने नहीं लिखा। केवल भक्तमालों में वे वाल्मीकि के अनुवादक के रूप में स्मरण किए जाते हैं।"[8] तुलसीदास ने तो रैदास की पंक्तियों—

"रैदास बामन मत पूजिए,
जो होय गुणहीन।
पूजिए चरण चंडाल के
जो होय गुण प्रवीन।"[9] को उलटकर लिखा है। 'रामचरितमानस' में वे लिखते हैं–

"पूजिए विप्र ज्ञान गुण हीना
पूजिए न शूद्र ज्ञान प्रवीणा"[10]

'जाति' और 'वर्ण' का प्रश्न

संत रैदास के काव्य में 'वर्ण' एवं 'जाति' के सवाल को क्रमबद्ध तरीके से देखा जा सकता है। पहला प्रश्न तो यह है कि रैदास जाति हीनता की ग्रंथि से मुक्त हैं। उनका जन्म जिस 'चमार' जाति में हुआ, जो मृत पशुओं को ढोने का या जूता बनाने का काम करती रही है, उसके प्रति उनके भीतर एक स्वाभिमान है। रैदास का यह स्वाभिमान, आज चमार जाति के या अन्य दलित जातियों में 'आत्मविश्वास' भरने का काम कर रहा है। रैदास लिखते हैं—

"जाके कुटुंब के ढेढ़ सभ ढोर ढोवंत फिरहि अजहू बनारसी आस पासा। आदर सहित विप्र करहि डंडउति, तिन तनै रैदासानुदासा।"[11]

अर्थात जिसके परिवार के लोग बनारस के आस–पास आज भी मृत पशुओं को ढोने का काम करते हैं उस रैदास को आज ब्राह्मण भी दंडवत प्रणाम करते हैं। अपने कई पदों में वे '*कहे रैदास खलास चमारा*' की छाप भी लगाते हैं। रैदास का यह स्वाभिमान का भाव ही था जिसके कारण डॉ. आंबेडकर ने अपनी दो पुस्तकें 'Anhilation of caste' और 'Untouchable' संत रैदास को समर्पित की हैं।

वर्णों के विषय में रैदास के विचार

हिंदू समाज व्यवस्था 'वर्ण व्यवस्था' है। इसमें आगे चलकर जिस तरह जातियों का सोपानीकरण हुआ वर्णों में भी यही सीढ़ीनुमा व्यवस्था कायम है। 'ब्राह्मण' वर्ण सर्वोपरि और 'शूद्र' वर्ण निम्नतम। ऊपरी तीन वर्ण सत्ता संपत्ति और सम्मान से युक्त हैं चौथा इनसे वंचित। समाज जिसे ब्राह्मण कहता है, रैदास उसे ब्राह्मण न मानकर, चारों वर्णों को अपने तरीके से परिभाषित करते हैं।

ब्राह्मण वर्ण

"रैदास जोउ वेता ब्रह्मकर, सोइ ब्राह्मन जान।
ब्रह्म न जऊ जानहि, तउ न ब्राह्मण मान।।"[12]

वे ब्रह्म के न जानने वाले को ब्राह्मण नहीं मानते। इतना ही नहीं, जो धरम–करम को नहीं जानता, मन में जाति का अभिमान रखता है, ऐसे

ब्राह्मण से वे परिश्रम से अपनी आजीविका चलाने वाले श्रमिक या मजदूर को श्रेष्ठ मानते हैं।

क्षत्रिय वर्ण

रैदास सच्चा क्षत्रिय उसे मानते है जो दीन दुखियों की भलाई के लिए अपने प्राण न्यौछावर कर दे तथा कभी भी रण क्षेत्र को न छोड़े।

"दीन दुखी के हेत जउ,बारै अपने प्राण।

रैदास उह नर सूर कौ, सांचा क्षत्री जान।।" [13]

वैश्य वर्ण

रैदास वैश्य उसे मानते हैं, जो पूरी सच्चाई के साथ व्यापार करके पुन्य कमाई करता है और सभी के सुख की कामना करें। साथ ही वे यह भी कहते है कि जो सत्य के बाजार में, सत्य की तराजू से सच का सौदा देता है, वही सच्चा वैश्य है।

"सांची हाट बैठि कर, सौदा सांचा देइ। तकड़ी तौले सांच की, रैदास वैस है सोइ।"[14]

शूद्र वर्ण

जो शुद्ध और पवित्र जीवन जीते हैं, वे ही शूद्र हैं। जो ईश्वर जन की सेवा करें, मन में अहंकार न रखे, असत्य न बोले, वही शूद्र धन्य है।

"रैदास जउ अति पवित्त हैं, सोइ सूदर जान।

जउ कुकरमी असुध जन, तिन्ह ही न सूदर मान।"[14]

डॉ. सुभाष चन्द्र का मानना है— "रविदास ने अपने सामाजिक चिंतन में समाज में ऊंच-नीच की भावना का खंडन किया और वर्णाश्रम व्यवस्था का जमकर विरोध किया। उनके विचार में ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र और क्षत्रिय, डोम, चमार और मलेच्छ भगवत भजन से ही एक कुल के हो जातेहैं।" [16]

रैदास के वर्ण चिंतन में जन्म पर बल न होकर कर्म और आचरण पर ही अधिक बल है। सभी वर्णों को उन्होंने एक नये रूप में परिभाषित किया है।

रैदास काव्य में जाति का प्रश्न

वर्णों की संख्या तो सिर्फ चार मानी जाती है। कहीं-कहीं शास्त्रों में 'पंचम वर्ण'का उल्लेख मिलता है, लेकिन भारत में जातियों की संख्या छह हजार से ऊपर मानी गई है। जातियों का विशाल सागर भारत में मौजूद है। रैदास 'जाति व्यवस्था' को बड़ी बारीकी से समझते हैं। वे समाज पर महीन दृष्टि डालते हुए अनुभव करते है, यहां 'जाति के भीतर भी जाति' है, जिसमें इंसानों के बीच अलगाव पैदा किया है। इसके कारण समाज बिखरा हुआ है।

"जात-जात में जात है, ज्यों केलन के पात। रैदास न मानुष जुड़ सकै, जौं लौंजातनजात।"[17]

वे जाति व्यवस्था के नुकसान को देखते हैं। जाति के फेर में सारा समाज उलझकर रह गया। जाति को रैदास एक (मानसिक) रोग कहते हैं जो इंसानों के बीच से मनुष्यता को खा गया।

"जात-पात के फेर मंहि, उरझि रहइ सब लोग। मानुषण को खात हइ, रैदास जात का रोग।"[18]

चाहे 'जाति' हो या 'वर्ण', रैदास मनुष्य के जन्म को उसका आधार नहीं मानते हैं। वे साफ-साफ कहते हैं- "ब्राह्मण, खतरी, वैस, सूद रैदास जनम ते नाहि"[19] उसी प्रकार ऊंच-नीच का आधार भी वे जन्म को न मानकर मनुष्य के कर्मों से मानते हैं।

"रैदास जन्म के कारनै, होत न कोउ नीच। नर कूं नीच करि डारि है, ओछे कर्म की कीच"[20]

अगर कोई सुकर्म करता है तो नीच भी ऊंचा हो सकता है, लेकिन ऊंच भी यदि कुकर्म करता है तो वह महानीच कहलाता है -

"रैदास सुकरमन सौं नीच ऊँच हो जाय। करइ कुकरम जो ऊँच भी, तो महानीच कहलाय।।" [21]

ब्राह्मण या पंडित जहां वर्ण है वहीं वह जाति भी है। रैदास 'चमार' और 'ब्राह्मण' में कोई भेद नहीं मानते। उनका मानना है सभी एक हैं।

"वेद पढ़ई पंडित बन्यो, गांठ पन्ही तउ चमार। रैदास मानुष इक हइ, नाम धरै हइचार।"[22]

जाति के आधार पर 'ब्राह्मण' को 'देवता' माना जाना उसके चरण छूने, आशीर्वाद लेने को रैदास सही नहीं मानते हैं। वे गुणों और योग्यताओं के पक्षधर हैं न कि जाति के—

"रैदास ब्राह्मण मत पूजिए, जउ होऊ गुनहीन। पूजहि चरन चण्डाल के, जउहौवे गुन प्रवीन" [23]

मनुष्य की उत्पत्ति के लिहाज से, वे सभी मनुष्यों को एक मानते हैं।

सब एक ही बूंद से उत्पन्न हैं, सबका सिरजनहार एक ही है। एक ही जोति से सब उपजै है, सबका कर्ता एक है फिर ब्राह्मण और चाण्डाल का भेद कैसा? सब उसी प्रभु के 'पूत' हैं और वह प्रभु सबका पिता। फिर जात और कुजात क्या? रैदास का स्पष्ट मानना है किसी से जाति मत पूछिए क्योंकि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी के एक प्रभु से उत्पन्न होने के कारण सभी की जाति एक ही है।

जाति के आधार पर घृणा की जाती है। इस घृणा का स्रोत वे पराधीनता को मानते हैं, पराधीन व्यक्ति से कोई प्रीत नहीं करता है। इसलिए समाज में पराधीन जातियां ही सताई जाती हैं, उनसे ही घृणा की जाती है। पराधीन का कोई दीन या धर्म भी नहीं माना जाता है। अछूत जातियों के विषय में यह बात पूरी तरह सही है। उनकी हीनता या निम्नता का कारण उनकी पराधीनता ही है—

"पराधीन को दीन क्या, पराधीन बेदीन रैदास दास पराधीन को, सब हिं समझै हीन" [24]

इस पराधीनता के कारण समाज में असमानता है, भूख है, दुःख है, निम्न जातियों का सामाजिक अपमान है, इसलिए वे ऐसा राज चाहते हैं–

"ऐसो चाहौं राज मैं, जहां मिलै सबन कौ अन्न। छोट बड़ो सभ सम बसै, रैदास रहै प्रसन्न।" [25]

रैदास 'बेगम पुरा'का विकल्प प्रस्तुत करते हैं। जो पूरन सुख धाम है, जहां सभी गमों से मुक्त हो बेग़म रह सकते हैं। जिस तरह तुलसी रामराज्य का विकल्प समाज को देते हैं उससे बेहतर विकल्प रैदास बेग़मपुरा का देते हैं।

संत रैदास के विषय में डॉ. एन. सिंह का कहना है—*"संत रैदास ने तत्कालीन रुढ़ियों के प्रति विद्रोह किया इसलिए उन्हें सामाजिक क्रांति का अग्रदूत कहने में कोई अत्युक्ति नहीं है।"* [26]

रैदास का जन्म अछूत जाति 'चमार' में होने के कारण, उनके पास जाति के तिक्त अनुभव थे। सामाजिक अपमान था, गरीबी थी, जो जाति व्यवस्था के ही बायोप्रडक्ट थे, लेकिन उसके बाद भी उनके मन में कटुता की जगह विनम्रता और मानवता है। ऐसे राज की कल्पना करना जिसमें कोई भूखा न रहे, सभी समान और बेग़म रहें, श्रेष्ठ मानवता का उदाहरण है। चारो वर्णों की उनकी व्याख्या और जाति भेद पर उनके विचार एक लोकतांत्रिक और मानवीय समाज के निर्माण की भूमिका का निर्माण करते हैं।

संदर्भ सूची:

1. पी. वी. काणे: धर्मशास्त्र का इतिहास, पृष्ठ–110, हिंदी समिति सूचना विभाग, लखनऊ, उत्तर प्रदेश द्वितीय संस्करण
2. डॉ. तेज सिंह: प्रारंभ (पत्रिका), दलित साहित्य विशेषांक पृष्ठ–60, मई 2004
3. डॉ. नर्मदेश्वर प्रसाद : जाति व्यवस्था, पृष्ठ –77 संस्करण–1965, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली–6
4. इरफान हबीब का कोट : हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ–13, एन. सी. आर.टी. संस्करण–1997, लेखक :– विश्वनाथ त्रिपाठी

पत्रिका में बहुजन साहित्य की तीनों धाराओं यानी दलित साहित्य, आदिवासी साहित्य और पिछड़ा वर्ग साहित्य के साथ स्त्री सशक्तिकरण से जुड़ी रचनाएं आमंत्रित है। हम अन्य उपेक्षित अस्मिताओं जैसे विकलांगता व थेड जैंडर को भी महत्व देंगे।

संपादक मंडल

5. कबीर:कबीर ग्रंथावली, संपा. माताप्रसाद गुप्त, साहित्य भवन, प्रा. लि, 93 – जीरो रोड, इलाहाबाद, दोहा सं. 10 पृ. 62
6. मीराः मीरांबाई, पृष्ठ 36, लेखक : ब्रजेन्द्र कुमार सिंहल, साहित्य अकादेमी, दिल्ली संस्करण –2017
7. माधव हाडा : मीरां रचना – संचयन, पृष्ठ–13 साहित्य अकादेमी, दिल्ली,संस्करण–2017
8. डॉ. शुकदेव सिंह: रैदास बानी,पृष्ठ 251, राधाकृष्ण प्रकाशन, प्राइवेट लिमिटेड, जी–17, जगतपुरी, दिल्ली–110051, संस्करण 2003
9. रैदास : रैदास ग्रंथावली, पृष्ठ 163, डॉ. जगदीश शरण, गौतम बुक सेंटर 1/4446, रामनगर एक्स्टेंशन, गली नं. 4, शाहदरा दिल्ली, संस्करण–2019
10. तुलसीदास:रामचरितमानस 3/34/2, गीताप्रेस, गोरखपुर
11. रैदास ग्रंथावली, पृष्ठ 329 डॉ.– जगदीशरण
12. रैदास – वही –, पृष्ठ – 115
13. वही, पृष्ठ – 116
14. वही, पृष्ठ – 118
15. वही, पृष्ठ–119
16. डॉ. सुभाष चन्द – दलित मुक्ति की विरासत संत रविदास पृष्ठ–49, संस्करण–2012, आधार प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड पंचकुला, हरियाणा
17. रैदास : रैदास ग्रंथावली, पृष्ठ–111,डॉ. जगदीश शरण
18. वही, पृष्ठ–108
19. वही, पृष्ठ–109
20.वही,पृष्ठ–110
21. वही,पृष्ठ–112
22. वही, पृष्ठ–109
23. वही, पृष्ठ–112
24. वही, पृष्ठ–146
25. वही पृष्ठ–146
26. डॉ. एन सिंह : अपेक्षा (पत्रिका) पृष्ठ–16, अप्रैल-जून–2003 अंक

खंडित सपनों के खिलाफ

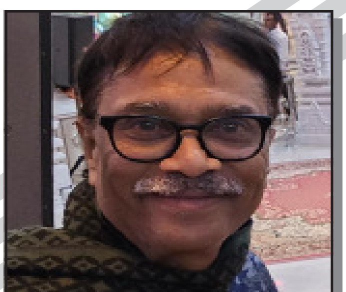

वेद प्रकाश
संपादक
'समय संज्ञान- त्रैमासिक
103, ब्लूबेल टावर,
पैरामाउंट फ्लोराविले,
सेक्टर 137, नोएडा, गौतम बुद्ध नगर, उत्तर प्रदेश, पिन-201305
मो. 7696075800
ईमेल ved1964@gmail.com

हमारा समय खंडित स्वप्नों का समय है। जहाँ पहले संपूर्ण मानव जाति की मुक्ति का सवाल ही विचारकों और चिंतकों के सरोकारों का विषय हुआ करता था, वहीं अब संपूर्ण मानव समाज के बजाय कुछ हाशिए के या विकास में पिछड़ गए समुदाय के सवाल सरोकारों के केंद्र में हैं।

पंद्रहवीं-सोलहवीं सदी में जब भारत में कबीर, रैदास, मीरा आदि संत सांस्कृतिक पटल पर उभरने लगे तो वे केवल ब्राह्मणों, हिंदुओं, मुस्लिमों, दलितों या स्त्रियों की मुक्ति की बात नहीं कर रहे थे, बल्कि पूरी मानवजाति को दुखों के बंधन से मुक्त कराने की बात कर रहे थे। उनके निशाने पर थे, शास्त्रबद्ध धर्म जिन्हें राजसत्ता का खुला समर्थन प्राप्त था। लेकिन पूरे हिंदू धर्म को शत्रु मानने की बजाय वे अत्याचारियों और उत्पीड़कों की पहचान कर रहे थे। इस पहचान की बुनियाद अत्याचार और उत्पीड़न थे, न कि उत्पीड़कों के धर्म, लिंग या जाति। कमोबेश यही स्थित यूरोपीय पुनर्जागरण और प्रबोधन की थी, जिसने राजसत्ता के दैवीय आधार को खिसका कर उसके स्थान पर उसके उपयोगितावादी आधार को, इहलौकिक, मानवतावादी आधार को स्थापित किया। इसी को बढ़ाते हुए तर्क और विज्ञान का उदय हुआ। उत्पीड़क जमींदारों और चर्च का विरोध कर धर्मनिरपेक्ष राजसत्ता का विकास हुआ।

मैकियावली ने सबसे पहले राज्य की उत्पत्ति के दैवीय सिद्धांत को चुनौती दी और स्थापित किया कि राजा को कोई अलौकिक अधिकार प्राप्त नहीं होते, उसे अपनी तिकड़मों से अपनी गद्दी को हासिल करना पड़ता है और उसे बरकरार रखना पड़ता है। इसके बाद, थामस हाब्स ने मनुष्य के स्वार्थी होने का सिद्धांत पेश करते हुए एक सर्वशक्तिमान, सर्वग्रासी अतिविशालकाय प्राणी के रूप में राज्य की कल्पना की जिसे उन्होंने लेवियाथन नाम दिया, लेकिन इस सिद्धांत का महत्व भी इसी बात में था कि इसने राज्य और राजा के दैवीय सिद्धांतों को पूरी तरह उखाड़ दिया हालांकि इसने राज्य की

सर्वशक्तिमत्ता का समर्थन किया। राजनीतिक दर्शन के पटल पर इसके बाद आते हैं जान लॉक, जो अनुभववादी दर्शन की नींव रखते हैं। तत्पश्चात् रूसो, जिनके सोशल कांट्रेक्ट ने लोकतांत्रिक समाज का मूर्त रूप सामने रखा। इन्हीं के लगभग साथ ही आते हैं वाल्तेयर, मोंतेस्क्यू आदि जो पुनर्जागरण के पुरोधा बने। इसके साथ ही मानव चिंतन में स्वतंत्रता, समानता और भाईचारे के नारे ने केंद्रीय भूमिका हासिल की। इस मानवतावादी दार्शनिक परंपरा की परिणति होती है—कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स के वैज्ञानिक समाजवाद में।

इससे पहले के दर्शनशास्त्रों और कार्ल मार्क्स के दर्शनशास्त्र में क्या फर्क था। पहला तो यह कि 'दर्शन का काम समाज की व्याख्या करना नहीं, बल्कि इसे बदलना है'। और दूसरा यह कि 'अब तक मानव समाज का ज्ञात इतिहास वर्ग संघर्षों का इतिहास है।' और भी कि 'तुम्हें खोने के लिए सिर्फ जंजीरें हैं और पाने के लिए पूरी दुनिया पड़ी है।' इन सपनों पर सवार हो कर दुनियाभर में समाजवादी आंदोलन चले। पहले विश्वयुद्ध के बाद प्रथम साम्यवादी देश सोवियत संघ की स्थापना हुई, जिसमें व्यक्तिगत संपत्ति का उन्मूलन कर सर्वहारा वर्ग की तानाशाही स्थापित हुई।

पूरी दुनिया के बुद्धिजीवी समाजवाद के समर्थक हो गए। यहां तक कि सार्त्र की कही यह बात कि 'बिना वामपंथी हुए कोई बुद्धिजीवी कैसे हो सकता है।' लगभग सर्वस्वीकृत बात थी। पूंजीवादी समाजों में, जहां समाजवादी आंदोलन कमजोर था और सरकारी दमन प्रबल था, वहां हाशिए पर छूट गए वर्गों और समुदायों की आवाज रेखांकित करने के लिए अस्मितावादी आंदोलन शुरू हुए। शुरुआत में ये आंदोलन पुराने समाजवादी बुद्धिजीवियों द्वारा ही चलाए गए। इन आंदोलनों में सबसे प्रबल था राष्ट्र की अस्मिता का संघर्ष, जिसने जहां एक ओर साम्राज्यवादी ताकतों के खिलाफ जनता को गोलबंद करने में, उन्हें उखाड़ फेंकने में अहम भूमिका निभाई वहीं जनता को समाजवादी आंदोलन से दूर रखने की भी पूरी कोशिशें कीं। ये कोशिशें अधिकतर जगहों पर कामयाब भी रहीं। राष्ट्रवादी आंदोलनों के फासीवाद में बदलने का खतरा होता है, जो जर्मनी और इटली में देखने को मिला, भारत में सांप्रदायिक ताकतें भी राष्ट्रवाद के झंडे तले ही अपने आंदोलन को स्वीकृति दिला पाती हैं।

अस्मितावादी संघर्षों में इसके अलावा स्त्री मुक्ति आंदोलन, भाषाई अस्मिता आंदोलन, धार्मिक अल्पसंख्यक आंदोलन और अश्वेत अस्मिता आंदोलन भी रहे। भारत के संदर्भ में अश्वेत आंदोलन के स्थान परगैर ब्राह्मण और दलित आंदोलन रहे। इसकी शुरुआत जोतिबा फुले और डॉ. आंबेडकर से होती है। इन आंदोलनों को शुरू में तो समाज-वादियों का समर्थन मिला। लेकिन जल्दी ही इनमें एक ऐसा तबका विकसित हो गया जिसे न केवल समाजवाद के जिक्र से परहेज था, बल्कि उसके निशाने पर सीधे-सीधे समाजवादी आ गए। बल्कि स्थिति और भी विडंबनापूर्ण तब हो गई जब एक अस्मितावादी विमर्श का टकराव दूसरे अस्मितावादी विमर्श से होने लगा। भारत में हिंदूवादी अस्मितावादियों का टकराव जहां दलित अस्मितावादियों से है वहीं स्त्री अस्मितावादियों, खासकर दलित-स्त्री अस्मितावादियों का टकराव दलित अस्मितावादियों से है। कई लोगों की एक से अधिक अस्मिता भी होने लगी। जब उन्हें जरूरी लगा वे एक अस्मिता से दूसरी अस्मिता में चले जाते हैं, फिर वापस लौट आते हैं। जैसे दलित-हिंदू को यह सुविधा प्राप्त है कि वह हिंदूवादियों के बीच खुद को दलित बताए, और दलितों के बीच खुद को राष्ट्रवादी या अपनी संस्कृति से जुड़ा बताए। ठीक यही सुविधा दलित-स्त्री को भी प्राप्त है कि वह स्त्री विमर्श में खुद को दलित बताए और दलित विमर्श में खुद को स्त्री।

इन सभी अस्मितावादी विमर्शों में फिर अस्मिता के भीतर अस्मिता की आवाज उठने लगती है। स्त्रियों के बीच दलित-स्त्रियों की आवाज, दलितों के बीच वाल्मीकि-दलितों या खटिक-दलितों की आवाज, हिंदूवादियों के बीच दलित-हिंदुओं की आवाज, राष्ट्रवादियों के बीच अल्पसंख्यक-राष्ट्रवादियों या मराठी-राष्ट्रवादियों,

बिहारी-राष्ट्रवादियों की आवाज।

इन सभी अस्मितावादी विमर्शों में एक और दिलचस्प बात देखने में आती है कि एक छोटा-सा तबका पूरे समुदाय का स्वघोषित प्रवक्ता बन बैठता है। जो जितना उग्र या हिंसक होता है, इलैक्ट्रॉनिक मीडिया की कृपा से उतना ही लोकप्रिय हो जाता है। फिर धीरे-धीरे पूरे समुदाय को धकिया कर उसके सारे संसाधनों पर खुद कब्जा कर लेता है। वह वर्ग पूरे समाज के प्रति अपने पिछड़े होने को जितने उग्र रूप से मनवाता है उतने ही उग्र रूप से अपने समुदाय के पिछड़े लोगों का दमन भी करता है।

अस्मितावादी विमर्श की क्या कसौटी हो? इसका आम जन के मुक्ति संग्राम से क्या रिश्ता हो? ये अहम प्रश्न उठाते हुए पुरुषोत्तम अग्रवाल कहते हैं—"सामाजिक अस्मिता का विमर्श वहां तक निश्चित ही मुक्तिपरक है, जहां तक वह अस्मिता विशेष के उत्पीड़न को व्यवस्था मात्र के प्रसंग में रेखांकित करता है। लेकिन क्या वह तब भी मुक्तिपरक ही रहता है, जब कि— "अस्मिता विमर्श" को "व्यवस्था विमर्श" का पूरक और सहायक नहीं, बल्कि विकल्प बना दिया जाए! यह स्थिति उत्पन्न कर दी जाए कि 'व्यवस्था' की चर्चा करना तक 'पॉलिटिकली इन-करेक्ट' लगने लगे! बोध विश्लेषण की कोटि के रूप में "व्यवस्था" को धकिया कर, सिर्फ और सिर्फ अस्मिता को पधरा दिया जाए।"[1]

पिछले दो दशकों से यही हो रहा है। इस देश के बहुजन समाज के सामाजिक-आर्थिक उत्पीड़न के खिलाफ, उनकी मुक्ति का जो संघर्ष महात्मा जोतिबा फुले और डॉ. आंबेडकर ने शुरू किया था, जिसे दलित पैंथर और कांशी राम ने आगे बढ़ाया, वह क्योंकर जातिवादी संघर्ष में बदल गया। कैसे जाति के विनाश की जगह अपनी-अपनी जातियों को मजबूत करना इसका लक्ष्य बन गया। यही स्थिति सभी अस्मितावादी विमर्शों की हुई।

ऐसा नहीं है कि अस्मितावादी आंदोलनों की संकीर्णतावादी प्रवृत्तियों की आलोचना न हुई हो, पर अधिकांश बुद्धिजीवियों ने इससे परहेज ही किया। क्योंकि डर था कि कहीं उन्हें हिंदू विरोधी, दलित विरोधी या स्त्री विरोधी न मान लिया जाए। यानी कि न चाहते हुए भी अस्मितावादी समुदायों का नेतृत्त्व अपनी संकीर्णतावादी प्रवृत्तियों के बावजूद लोकवृत्त में अपने-अपने वर्गों का प्रवक्ता बना रहा।

मेरी जानकारी में, दलित विमर्श में उभरती संकीर्णतावादी और स्त्री विरोधी प्रवृत्तियों की सबसे पहले सार्वजनिक आलोचना पुरुषोत्तम अग्रवाल ने की। उन्होंने अपने तद्भव के लेख "अकबर नाम लेता है खुदा का।।" में इन प्रवृत्तियों की कड़ी आलोचना तो की ही, इन आंदोलनों की सार्वभौमिक बहुजन आंदोलन के प्रति वितृष्णा को भी रेखांकित किया। दलित विरोधी होने का ठप्पा लग जाने का जोखिम उठाते हुए। जातिवाद का विरोध करने के लिए यह कतई जरूरी नहीं है कि आप सार्वभौमिक बहुजन संघर्ष के भी खिलाफ हो जाएँ। बल्कि जातिभेद का तो विकल्प ही सामाजिक जनतंत्र है। वे दलित अस्मितावादी विमर्श के स्वयंभू प्रवक्ताओं को डॉ. आंबेडकर की याद दिलाते है— "याद रखना चाहिए कि डॉ. आंबेडकर जाति व्यवस्था का प्रतिपक्ष सामाजिक, जनतंत्र, सोशल, डेमोक्रेसीं को मानते थे। राजनैतिक जनतंत्र और सामाजिक जनतंत्र के बीच बिल्कुल ठीक फर्क करते हुए वे राजनीतिक जनतंत्र को सामाजिक जनतंत्र स्थापित करने का साधन मानते थे।"[2]

डॉ. आंबेडकर के पूरे चिंतन में ये 'स्वतंत्रता, समानता और भाईचारा के आदर्श अंतर्धारा की तरह, एक कसौटी की तरह, हर जगह मौजूद हैं। वह 'जातिप्रथा का उन्मूलन' हो, या 'हिंदुत्व का दर्शन', 'बुद्ध अथवा कार्ल मार्क्स' हो या 'रानाडे, गांधी और जिन्ना'। डॉ. आंबेडकर अछूतों समेत बहुजन समाज के हितों के लिए लड़े और सार्वभौमिक बहुजन समाज का सवाल कभी अपनी आंख से ओझल नहीं होने दिया। वे अपने सुप्रसिद्ध भाषण 'जातिप्रथा-उन्मूलन' में कहते हैं "आपसे यह अवश्य पूछा जा सकता है कि यदि आप जाति के विरुद्ध हैं, तो आपके विचार से आदर्श समाज किसे कहा जा सकता है? अगर आप मुझसे पूछें तो मेरा आदर्श एक ऐसा समाज होगा, जो स्वाधीनता, समानता और भाईचारे पर आधारित हो।"[3]

डॉ.आंबेडकर की स्वतंत्रता, समानता और भाईचारे की दृष्टि को ही डॉ. तेज सिंह, थामस मैथ्यू, आनंद तेलतुंबड़े और कंवल भारती आदि लेखक आगे बढ़ा रहे हैं। अस्मितावादी विमर्श की सीमाओं का विरोध डॉ. आंबेडकर ने तो किया ही था, विख्यात साहित्यकार रवींद्रनाथ टैगोर ने भी किया था। अपने राष्ट्रवाद शीर्षक भाषण में वे कहते है— "राष्ट्र के उदय के दौरान भाईचारे की नैतिक संस्कृति भौगोलिक सीमाओं में कै़द हो कर रह गई। उस समय ये सीमाएं वास्तविक थी, लेकिन आज काल्पनिक हैं।"[4] उन्होंने गांधीजी के विरोध करने का जोखिम उठाकर भी 'राष्ट्रवाद' की सोच की सीमाएं स्पष्ट कीं।

दिलचस्प बात है कि रवींद्रनाथ टैगोर भी डॉ. आंबेडकर की तरह भारत की मुख्य समस्या सामाजिक समस्या को मानते थे। इसी भाषण की शुरुआत करते हुए वे कहते है— "भारत में हमारी असली समस्या राजनीतिक नहीं है, सामाजिक है।"[5] फिर भी भारत में राष्ट्रवाद की खूब धूम हुई, सामाजिक सवाल उठाने वालों को भुला दिया गया। जबकि भारत की समस्या सामाजिक पुनर्निर्माण की है, लोकतांत्रिक आधार पर समाज का पुनर्निर्माण। एक समय समझा जाता था कि जैसे-जैसे औद्योगीकरण होगा, जातिवाद और सांप्रदायिकता जैसी समस्याएँ खुद-ब-खुद दूर हो जाएँगी। विडंबना है कि औद्योगीकरण के विकास से इन्होंने खाद-पानी हासिल कर अब विकराल रूप धारण कर लिया है।

लेकिन सामाजिक आंदोलनों को चलाने वालों में सामाजिक पुनर्गठन की मांग करने वाले डॉ. आंबेडकर की उपेक्षा जारी है। हालांकि आजकल दलित वोट बैंक के चलते कोई भी राजनीतिक दल आंबेडकर को सीधे-सीधे गरियाने का जोखिम नहीं उठाना चाहता, फिर भी गाहे-बेगाहे उनके मुख से आंबेडकर के प्रति हिकारत जाहिर हो ही जाती है। भारतीय जनता पार्टी के अरुण शौरी का डॉ. आंबेडकर को '*मिथ्या भगवान*' कहना तो फिर भी समझ आ सकता है (*वर्शिपिंग फाल्स गॉड*) क्योंकि डॉ. आंबेडकर ने पिछले करीब 2 हजार साल के मनुराज को समाप्त कर कानून का राज स्थापित कर दिया था। बेशक इसके पीछे भारतीय जनता की अभूतपूर्व और महान कुर्बानियां थीं, लेकिन इसकी अग्रिम पंक्ति में अन्यों के साथ निश्चित ही डॉ. आंबेडकर भी थे, और चूंकि वे अछूत वर्ग से आते थे, इसलिए क्रोध का निशाना भी वही बने। वे अरुण शौरी के क्रोध का निशाना इसलिए बने कि उन्होंने अरुण शौरी की ब्राह्मणवादी समाजनीति पर मर्मांतक चोट की थी। इसलिए उनका गुस्सा तो समझ आता है पर कम्युनिस्ट मुप्पाला रंगानायकम्मा का आंबेडकर को 'एक दिग्भ्रमित बुद्धिजीवी' कहना समझ नहीं आता।[6] ज्यादा दुखद बात तो यह है कि कम्युनिस्टों की ओर से रंगानायकम्मा को कोई जवाब नहीं दिया गया। रंगानायकम्मा की किताब का शीर्षक है— "'जाति' प्रश्न के समाधान के लिए बुद्ध काफी नहीं, आंबेडकर भी काफी नहीं, मार्क्स जरूरी हैं।" इस पूरी किताब में वे लगभग अरुण शौरी की सी सपाट बयानी शैली में डॉ. आंबेडकर की निंदा करती हैं, 25 सौ वर्ष पुराने बुद्ध की मार्क्स से तुलना कर उन्हें नाकाफी ठहराती हैं। बुद्ध और डॉ. आंबेडकर की निंदा करते हुए मार्क्सवादी रंगानायकम्मा को कहीं यह जरूरी नहीं लगता कि वे ऐतिहासिक भौतिकवादी विश्लेषण पद्धति को अपनाएं।

अगर आज समग्र मानव समाज के सपने के स्थान पर विभिन्न अस्मिताओं के स्वप्न प्रबल हो उठे हैं तो समग्र मानव समाज का स्वप्न देखने वाले बुद्धिजीवियों और चिंतकों को अपने गिरेबान में भी झांक कर देखना चाहिए कि उनका अपना व्यवहार और सोच इसके लिए कहाँ तक जिम्मेवार है।

समग्र मानव समाज की बराबरी का कोई भी सपना सोच की स्वतंत्रता से हो कर ही गुजरेगा। और मानव के स्वतंत्र चिंतन का सबसे पुराना उल्लेख हमें '*केसमुत्ति सुत्त*' में दिखाई पड़ता है। जिसमें बुद्ध कालामों को संबोधित करते हुए कहते हैं—"हे कालामो! आओ, तुम किसी बात का `केवल इसलिए स्वीकार मत करो कि यह अनुश्रुत है, केवल इसलिए मत स्वीकार करो कि यह बात परंपरागत है, केवल इसलिए मत स्वीकार करो कि यह हमारे धर्मग्रंथ के अनुकूल है, केवल

इसलिए मत स्वीकार करो कि यह तर्कसम्मत है, केवल इसलिए मत स्वीकार करो कि यह अनुमान-सम्मत है, केवल इसलिए मत स्वीकार करो कि इसके कारणों की सावधानीपूर्वक परीक्षा कर ली गई है, केवल इसलिए स्वीकार मत करो कि कहने वाले का व्यक्तित्व भव्य (आकर्षक) है, केवल इसलिए मत स्वीकार करो कि कहने वाला श्रमण हमारा पूज्य है। हे कालामो! जब तुम स्वानुभव से अपने आप ही यह जानो कि ये बातें अकुशल हैं, ये बातें सदोष हैं, ये बातें विज्ञ पुरुषों द्वारा निंदित हैं, इन बातों पर चलने से अहित होता है, दु:ख होता है-तब हे कालामो! तुम उन बातों को छोड़ दो।"[7]

मनोविश्लेषक एरिक फ्रॉम कहते हैं—"जहां यह सच है कि बौद्ध धर्म 25 सौ सालों से अपनी मौजूदगी में एक हद तक विकृत हुआ है और उपरोक्त बताई हुई बुराइयां बौद्ध धर्म के एक या अनेक संप्रदायों में आ गई हैं वहीं यह भी सच है कि बुद्ध के मूल उपदेश इन विचारों के पूरी तरह विरुद्ध हैं।"..."बौद्ध धर्म में केवल एक ही जड़सूत्रवादी बात है और वह है पुनर्जन्म में विश्वास।" लेकिन इसका "बौद्ध धर्म की केंद्रीय शिक्षा से कोई लेना देना नहीं है।" क्योंकि "चार आर्य सत्य और सम्यक आचरण के अष्टांग मार्ग के लिए पुनर्जन्म की मान्यता की कोई आवश्यकता नहीं है। वे अपनी सत्यता को इस धर्म सिद्धांत के बिना भी साबित करते हैं।"[8]

एरिक फ्रॉम के अनुसार—"बौद्ध धर्म आज के एक औसत 'प्रगतिशील' पाठक से उल्लेखनीय रूप से अधिक आमूल परिवर्तनवादी है। बुद्ध ईश्वर को नकारकर, व्यक्ति को उसके कार्यो के लिए पूरी तरह व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी ठहराकर, उसे सभी प्रकार की मिथ्या दृष्टियों से वंचित कर, वर्ग और राष्ट्र की सभी निष्ठाओं से बढ़ कर और सच की साझी निष्ठा पर पहुंचकर आमूल परिवर्तनवाद की जिस ऊंचाई तक पहुंचते हैं उस पर आज के अधिकांश मूलगामी विचारकों में से केवल कुछ ही पहुंचेंगे।"[9]

जब मानव की हैसियत उसके मानव होने के बजाय उसकी सामाजिक स्थिति के आधार पर निर्धारित होती है तो यह एक ऐसी सामाजिक चेतना है जो अन्यायपूर्ण और असमानतावादी व्यवस्था को बरकरार रखने में मददगार होती है। इस चेतना को अधिरचना का सवाल कह कर टाला नहीं जा सकता। इसका उस विचारधारा से भी गहरा संबंध है, जिसके महत्व को मिथ्या चेतना कह कर नकारा जाता है। भारत के संदर्भ में इस विचारधारा के महत्व की गहरी परख और उसकी कड़ी आलोचना डॉ.आंबेडकर के साहित्य में मिलती है। वह सामाजिक चेतना मदद दे। इसीलिए डॉ.आंबेडकर के साहित्य में जहां एक ओर 'स्वतंत्रता, समानता और भाईचारे' की दृष्टि मिलती है, वहीं ब्राह्मणवादी विचारधारा का कड़ा प्रतिवाद भी मिलता है। यही कड़ा प्रतिवाद उनसे कहलवाता है"मैं हिंदू धर्म में पैदा हुआ, यह मेरे बस में नहीं था, पर मैं इस धर्म में मरूँगा नहीं।" और यही प्रतिवाद उन्हें बौद्ध धर्म की ओर ले जाता है। बौद्ध धर्म ने इस असमानतावादी ब्राह्मणवाद का गहरा और व्यापक प्रतिवाद किया है। बौद्ध धर्म में जाने से पहले वे बौद्ध धर्म के साथ-साथ अन्य धर्मो की भी पड़ताल करते हैं और पाते हैं कि जातिवादी उत्पीड़न के विरुद्ध जितना गहरा प्रतिवाद बौद्ध धर्म में मिलता है, उतना अन्य धर्मों में नहीं। दूसरे बौद्ध धर्म का स्वतंत्र चिंतन और लोकतंत्र (गणराज्य) के प्रति आग्रह भी उन्हें बहुत आकर्षित करता है।

हमारे देश में लोकतांत्रिक समाज के निर्माण में जातिभेद सबसे बड़ा बाधक है। और इसी जातिभेद का एक रूप सांप्रदायिकता है। इसलिए जातिभेद से टकराए बिना कोई चारा नहीं। जातिभेद की परिघटना को पुरुषोत्तम अग्रवाल इन प्रकार सूत्रबद्ध करते हैं"लेकिन भारतीय जातिवाद की विशेषता क्या है? वर्तमान व्यवस्था के साथ उसका अंतस्संबंध किस प्रकार का है? पितृसत्ता और मर्दवाद से उसका क्या रिश्ता है? भारतीय संस्कृति की संरचना से जाति व्यवस्था का क्या संबंध है? वास्तविक जाति विरोधी विमर्श का निस्तार नहीं इन सवालों से टकराए बिना। भारतीय समाज में आप चाहे वर्ग संबंधों की बात करें, चाहे सामाजिक अस्मिताओं कीं जाति के विशिष्ट रूप और 'सार्वभौम' के साथ उसके संबंध को समझने का प्रयास तो करना ही पड़ेगा।"[10]

लेकिन इसके साथ यह भी सही है कि जातिवाद से लड़े बिना समाजवाद नहीं आ सकता। जो लोग यह सोचते हैं कि पहले समाजवाद ले आएं, जातिभेद अपने आप खत्म हो जाएगा, वे मुगालते में हैं। बिना जातिभेद से संघर्ष किए सर्वहारा वर्ग की मानसिकता का ही निर्माण नहीं होगा। भारत का सर्वहारा वर्ग जातियों में बँटा है, ब्राह्मण सर्वहारा के हित दलित सर्वहारा के हितों से टकराते हैं। भारत के मार्क्सवादियों को इस समस्या से टकराना पड़ता है, पर वे इससे कतरा कर निकल जाते हैं। दरअसल भारत का बहुजन समाज आशंकित है।

यह समाजवादियों का काम है कि वे बहुजन समाज की आशंकाओं को दूर करें। उनकी आशंका है कि क्रांति के बाद भी उनके साथ समानता का व्यवहार नहीं होगा। खुद डॉ. आंबेडकर ने यह आशंका व्यक्ति की थी—"क्रांति का नेतृत्व करने वाले किसी समाजवादी का यह आश्वासन कि मैं जातिप्रथा में विश्वास नहीं करता, मेरे विचार में काफी नहीं है। आश्वासन ऐसा होना चाहिए जिसकी गहरी बुनियाद हो, अर्थात् एक देशवासी का मानसिक व्यवहार दूसरे के प्रति व्यक्तिगत समानता और भाईचारे की भावना से भरा हो। क्या यह कहा जा सकता है कि भारत का सर्वहारा वर्ग गरीब होने के नाते गरीब होते हुए भी गरीब और अमीर के अंतर के अलावा कोई दूसरा अंतर नहीं मानता? क्या यह कहा जा सकता है कि भारत के गरीब लोग जातियाँ, नस्ल, ऊँच या नीच के ऐसे भेदों को नहीं मानते? यदि यह सच्चाई यह है कि वे मानते हैं तो इस प्रकार के सर्वहारा से अमीरों के विरुद्ध कार्यवाही करने में किस एकता की अपेक्षा की जा सकती है? यदि सर्वहारा वर्ग संगठित रूप में मोर्चा नहीं बनाता तो क्रांति कैसे हो सकती है? तर्क के लिए मान लिया जाए कि सौभाग्य से क्रांति हो जाती है और समाजवादी सत्ता में आ जाते हैं तो क्या उन्हें उन समस्याओं से नहीं निपटना होगा जो भारत में प्रचलित विशेष सामाजिक व्यवस्था से उत्पन्न हुई हैं? मैं नहीं समझता कि उन पक्षपातों द्वारा उत्पन्न समस्याओं का सामना किए बिना जो भारतीय लोगों में ऊँच-नीच, स्वच्छ-अस्वच्छ के भेदभाव पैदा करती हैं, भारत में कोई भी सामाजिक राज्य एक सैकंड भी कैसे कार्य कर सकता है।"[11]

लेकिन भारत के मार्क्सवादियों ने जातिप्रथा के खिलाफ कभी संघर्ष नहीं चलाया। डॉ. तेज सिंह के शब्दों में बहुजन समाज के बुद्धिजीवियों की कसक यों फूट पड़ती है—"इस हिंदू साम्राज्यवाद के खिलाफ वामपंथियों ने कभी संघर्ष नहीं चलाया। उनके राजनीतिक संघर्ष में सामंतवाद, पूंजीवाद और साम्राज्यवाद तो है लेकिन इन सबसे गठबंधन करके सत्ता, सिर्फ राजनीतिक ही नहीं, सामाजिक-आर्थिक सत्ता भी, पर काबिज होने वाला ब्राह्मणवाद उनकी आंखों से हमेशा ही ओझल रहता है। जातिवादी समाज-व्यवस्था को सामंती-अर्द्ध-सामंती अवशेष बताकर ब्राह्मणवाद को हाशिए पर डाल देना हिंदू साम्राज्यवाद को ही मजबूत करना है ...वामपंथी ताकतों ने बाहरी साम्राज्यवाद के खिलाफ तो संघर्ष चलाया लेकिन अंदर के साम्राज्यवाद यानी हिंदू साम्राज्यवाद के खिलाफ कोई संघर्ष नहीं चलाया। यही वजह है कि अधिकांश वामपंथियों के अंदर अभी भी ब्राह्मणवाद घर बसाए हुए है।"[12]

जहां एक ओर मार्क्सवादी अपनी जिम्मेवारी से बचते रहे हैं, वहीं बहुजन समाज के बुद्धिजीवियों में एक ऐसा तबका भी विकसित हो गया है जो समाजवाद के नाम से ही परहेज करते हैं। अपने चिंतन में वे स्त्रीविरोधी, मार्क्सविरोधी रूख अपनाते हैं। ऐसे तबकों की कड़ी आलोचना खुद बहुजन समाज के बुद्धिजीवियों ने की है और लगातार कर रहे हैं।

मार्क्सवादियों के सामने सबसे पहला सवाल जाति की परिघटना का ऐतिहासिक भौतिकवादी विश्लेषण करने का है। साथ ही इन सवालों कि—क्या जातिवाद प्राचीन काल से आज तक जस-का-तस बना हुआ है? क्या उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ है? उत्पादन की जिस प्रणाली से जातिभेद उपजा था, क्या वह तब से अब तक यथावत बनी हुई है? निश्चय ही नहीं। विभिन्न उत्पादन प्रणालियों के समय जातिभेद ने कैसे-कैसे रूप बदले। इसी प्रकार उत्पादन प्रणाली की शासक वर्गीय चेतना के रूप में जाति ने कैसे-कैसे रूप बदलें के जवाब भी दिए जाने हैं।

जातिवाद का विकल्प निश्चित ही लोकतांत्रिक समाज हो सकता है। और कोई भी लोकतांत्रिक समाज

जाति जैसी परिघटनाओं के साथ जिंदा नहीं रह सकता। पूरी तरह लोकतांत्रिक समाज के लिए उसका वर्गहीन और शोषणमुक्त समाज होना भी जरूरी है। इसीलिए डॉ. तेज सिंह जाति से लड़ने को ठीक ही सच्चे लोकतंत्र की बुनियादी जरूरत मानते है—"अगर जातिविहीन और वर्गविहीन समाज की स्थापना करनी है तो हमें जाति आधारित समाज-व्यवस्था का समर्थन करने वाले ब्राह्मणवाद और उसका पोषण करने वाले सामंतवाद को जड़ से खत्म करना होगा तथा जनवादी और लोकतांत्रिक मूल्यों और अधिकारों से वंचित करने वाली पूंजीवादी-व्यवस्था और उसकी विजय का गौरवगान करने वाली साम्राज्यवादी ताकतों के विरुद्ध लंबा संघर्ष करना होगा।"[13]

जातिवाद से लड़ने के लिए उसकी सही व्याख्या करने की जरूरत है। अगर हम सही व्याख्या नहीं प्रस्तुत करते तो शत्रुओं की व्याख्या प्रचलित रहेगी और शत्रुओं की व्याख्या यह है कि जातिहीन-वर्गहीन समाज का सपना सफल नहीं हो सकता, इसीलिए जातिवादी, पूंजीवादी, साम्राज्यवादी शक्तियां यह कहती हैं कि जातिवाद को कभी खत्म नहीं किया जा सकता। वे कहते हैं कि जब बुद्ध, कबीर, फुले और आंबेडकर की कोशिशें असफल हो गईं और जाति खत्म नहीं हुई तो आप क्या कर सकते हैं। और अगर जाति खत्म नहीं हो सकती तो इसके खिलाफ संघर्ष करने का क्या फायदा है। यही बात सोवियत संघ में समाजवाद के टूट जाने के बाद समाजवाद के बारे में कही गई थी कि अब सोवियत संघ में समाजवाद असफल हो गया है और पूंजीवाद जीत गया। अब उसके खिलाफ संघर्ष करने का क्या फायदा है। इसका जवाब देते हुए प्रो. रणधीर सिंह ने जोरदार शब्दों में कहा—"समाजवाद भले ही असफल हो गया हो पर अगर मानवजाति को बचाना है और आदमी को इंसान की तरह जीना है तो समाजवाद ही विकल्प है।"[14] इसी को आगे बढ़ाते हुए कहा जा सकता है कि जातिहीन समाज का संघर्ष भले ही असफल रहा हो, अगर मानवजाति को बचाना है और आदमी को इंसान की तरह जीना है, तो जातिहीन समाज ही विकल्प है। जातिहीन समाज ही वर्गहीन समाज हो सकता है।

संदर्भ

1. पुरुषोत्तम अग्रवाल, तद्भव, अप्रैल 2003, पृ. 52
2. पुरुषोत्तम अग्रवाल, उपरोक्त, पृ.54
3. डॉ. आंबेडकर, बाबा साहेब डॉ. आंबेडकर संपूर्ण वाङ्मय, खंड 1, अप्रैल 1993, पृ.78
4. रवींद्र नाथ टैगोर, भारत में राष्ट्रवाद, 'माडर्न इंडियन थॉट' में संकलित, सं. डॉ. आनंद प्रकाश, वर्ल्डव्यू पब्लिकेशंस, दिल्ली, 2006, प.10
5. रवींद्रनाथ टैगोर, उक्त, पृ.8
6. रंगानायकम्मा, 'जाति' प्रश्न के समाधान के लिए बुद्ध काफी नहीं, अंबेडकर भी काफी नहीं, मार्क्स जरूरी हैं, राहुल फाउंडेशन, लखनऊ, प्रथम संस्करण, जनवरी, 2008, पृ.476
7. अंगुत्तर निकाय, भाग 1, विपश्यना विशोधन विन्यास, इगतपुरी, द्वित्तीय संस्करण, 2005, पृ.195
8. एरिक फ्रॉम, http://www.erich-fromm.de/biophil/en/images/stories/pdf-Dateien/2009a-1975-e.pdf
9. -वही-
10. पुरुषोत्तम अग्रवाल, उपरोक्त, पृ.51
11. डॉ. आंबेडकर, उपरोक्त, पृ.65
12. डॉ. तेज सिंह, दलित समाज और संस्कृति, आधार प्रकाशन, पंचकूला, प्रथम संस्करण 2007, पृ.32-33
13. डॉ. तेज सिंह, दलित समाज और संस्कृति, आधार प्रकाशन, पंचकूला, प्रथम संस्करण 2007, पृ.123
14. प्रो. रणधीर सिंह, समाजवाद का भविष्य, पत्रिका इतिहास बोध, इलाहाबाद, फरवरी 2008, पृ.10

हरिश कुमार की कविता

संघर्ष

एक संघर्ष जो दस्तूर चल रहा है
कल उनकी बारी थी
आज भी उन्हीं की बारी है
हम लड़े-भिड़े, गिरे-संभले
फिर उठे फिर लड़े-लड़ते रहे
हार फिर भी नहीं मानी है
सभ्यता गई, मान प्रतिष्ठा गई
शिक्षा गई उन्नति गई
हम बने दिन-दिन गुलाम
कुछ समझे, कुछ न समझे
जो समझे फिर से उठे खड़े हुए
हूंकार भरी ललकारें दिए
हार फिर भी नहीं मानी है
कल उनकी बारी थी
आज भी उन्हीं की बारी है।

अतिथि कवि

डॉ. मनोरमा गौतम का काव्य संसार

सफ़ाई कर्मी

वह जो सफ़ाई कर रहा है आदमी
मैला कुचौला
पसीने में तर
उसे देख लोग नाक-भौ सिकोड़ते हैं
बड़बड़ाते हुए
उसकी बगल से निकल जाते हैं
उसके साथ व्यवहार ऐसा करते हैं
जैसे वो कोई मनुष्य नहीं
लोग उन्हें छूने से डरते हैं
उसके साथ खड़े होने से कतराते हैं
उसको घृणित मान
उससे दूरी बनाते हैं
ऐसा करते समय लोग ये भूल जाते हैं
यदि सफ़ाईकर्मी नहीं होते तो
पूरी व्यवस्था ही चरमरा जाती
स्वच्छ वातावरण और
स्वस्थ सेहत हम कैसे पाते।

डॉ. मनोरमा गौतम

जन्म : 21 अक्टूबर 1983
जन्म स्थान: जौनपुर, उत्तर प्रदेश
शिक्षा: पीएच.डी.(हिंदी)दिल्ली विश्वविद्यालय
प्रवक्ता, गार्गी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

-:रचना संसार:-

बहुत-सी कहानियां व कविताएं विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हैं
लगभग 50 से अधिक आलेख तथा शोधपत्र विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हैं।
एक कहानी संग्रह 'एक प्यार ऐसा भी' व एक कविता संग्रह 'बंद दरवाजे के पीछे स्त्री' प्रकाशाधीन है

मैं दिव्यांग हूँ जनाब

मैं दिव्यांग हूं जनाब
कमजोर नहीं
शरीर से विक्षिप्त हूं
लाचार नहीं
लोग मुझे देख मुंह बिचकाते हैं
फिर धीरे से कुछ फुसफुसाते हैं
कभी किसी को दया आ जाए
तो सहानुभूति दे जाते हैं
मुझे कमजोर असहाय
लाचार समझ
मुझ पर दया खाते हैं
मैं कहना चाहता हूं उन सब से
कर जोड़ एक निवेदन
नहीं चाहिए मुझे आपका
ये संवेदन
आंख नहीं है तो क्या
दिमाग तो है
हांथ नहीं है तो क्या
हुनर तो है
पैर नहीं है तो क्या
हौसला तो है
मैं भी कर सकता हूं
आप-सा हर काम
कर सकता हूं
दुनियां में अपना भी नाम
बस आप मुझे सहयोग देते रहना
समय-समय पर मेरा
आत्मविश्वास बढ़ाते रहना
फिर देखना आप मेरी उड़ान
कैसे छूता हूं मैं आसमान
मैं बता देना चाहता हूं
दुनियां को यह बात
है मुझमे भी वही जुनून
वही जज्बात
दिव्यांग कह-कह कर
दो न हमें आघात
शरीर से अक्षम हूं तो क्या
हुनर से हूं सक्षम
बस आप मुझे समझिए न
अपने से कम।

मैट्रो के मुसाफिर

मैट्रो में सफर करते समय
देखे हैं मैंने अनेक चेहरे
झांका है असंख्य लोगों की आंखों में
नापी है कईयों की हृदय की गहराइयां
दिल में कितना उफ़ान लिए ये लोग
भाग रहें हैं न जाने किस अनजाने भय
से
आंखों की नमी को मुस्कान में दबाए
हृदय पर भारी बोझ लिए
जबरन मुस्कुराने की जद्दोजहद में
ये लोग भूल गए हैं
कि
आखिरी बार खुलकर कब मुस्कुराएं थे
ठहाके मार कर कब हंसे थे
किसी अपने के कांधे पर सिर रख
कब जी भर रोए थे
नहीं याद इन्हें
शायद याद भी नहीं करना चाहते
डर है इन्हें कि कहीं
किसी ने पढ़ लिया इनका चेहरा
या फिर समझ लिया मन का भाव
तो इनके झूठे स्वाभिमान को

कहीं ठेस न पहुंच जाए
हां!
उसी स्वाभिमान को
जिसको इन्होंने सींचा है वर्षो
कृत्रिम आन की खाद-पानी देकर।

अगर मैं नहीं रही तो

अगर मैं नहीं रही तो
तुम कैसे जी पाओगे
अकेले इस संसार को
बोलो कैसे चलाओगे
कैसे बनोगे दूल्हा
और दुल्हन किसे बनाओगे
कैसे करोगे संतान उत्त्पत्ति
कैसे पिता कहाओगे
किस मां के आंचल में छुपकर
प्यार से दुलराओगे
मां का ममतामय वातसल्य
भला कहां तुम पाओगे
किस बहिन के भाई बनकर
राखी तुम बंधवाओगे
किस बेटी को नम आंखों से
डोली में बैठाओगे
अगर मैं नहीं रही तो
बेटा कहां से पाओगे
जिस कुल पर इतना गुमान करते हो
उस कुल का वंश कहां से लाओगे
कमजोर नहीं मैं

फूलन देवी

फूलन
बड़े प्यार से नाम रखा था
मां-बाबा ने
नहीं जानते थे
उनकी ये फूलन
एक दिन
फूल की तरह ही रौंदी जाएगी
एक बार नहीं
दो बार नहीं
बार-बार
अनेक बार रौंदी गई
ऊंची जाति वालों ने ही नहीं
अपनों ने भी लूटा
जब चाहा जहां चाहा लूटा
तड़पी बहुत मैं
बहुत चीखी चिल्लाई
हाथ जोड़ मदद की गुहार भी लगाई
पर किसी ने नहीं सुनी मेरी आवाज़
कोई नहीं आया
मेरी इज्जत बचाने को
कोई नहीं खड़ा हुआ
मेरी राह में बनकर रक्षक
मदद मांगने मैं जिसके पास भी गई
उसने भी मेरी जिस्म को नोचा
और तब तक नोचा
जब तक मैं अधमरी न हो गई
अपनी लुटी इज्जत को चीथड़े में लपेट
भागती रही मैं इधर से उधर
फिर कहीं जाकर मिला मुझे
सुरक्षित स्थान
हां चंबल!
चंबल ही बना मेरा सुरक्षित स्थान
और बंदूकधारी बने मेरे रक्षक
डाकुओ को मैंने भाई-बंधु बनाया
सिर पे कफन बांध मैंने बंदूक उठाया
और खाई कसम
बर्बाद कर दूंगी उन्हें
खत्म कर दूंगी उनकी पूरी नस्ले
जिन्होंने मुझे जिन्दा लाश बनाया
नाजुक-सी फूलन को
डाकू फूलन बनाया

पेड़ बोलता है

जब काटता है मानव पेड़
कर देता है वन-कुंज
और बाग-बगीचों को ढेर
तब बोलता है पेड़
रे मानव!
क्यूं काटता है तू मुझे
जरा मेरा भी तो अपराध बता दे
अन्न जल हम तुमको देते
फर भी काट तुम हमको लेते
खाने को खाद्य-पदार्थ
और पहनने को वस्त्र देते
सिर पर छत और छाया देते
फिर भी काट तुम हमको लेते
स्वच्छ वातावरण और ऑक्सीजन देते
औषधि और जड़ी-बूटीयां देते
रोगमुक्त हम जीवन देते
फिर क्यूं काट तुम हमको लेते
लकड़ी ईंधन तुमको देते
फर्नीचर और घर-आंगन देते
सुख-सुविधा और साधन देते
फिर भी काट तुम हमको लेते
रे मानव!
लगाती हूं मैं तुझसे गुहार
सुन ले मेरी बात एक बार
प्रकृति से न कर तू खिलवाड़
इसी कारण आता है अकाल और बाढ़
रे मानव
अगर लेता रहेगा तू ऐसे ही प्रकृति से बैर
तो प्रकृति भी नहीं मनाएगी तेरा खैर
अब भी समय है संभल जा
मत कर प्रकृति से छेड़-छाड़
वरना प्रकृति भी करेगी पलटवार
प्रकृति जब अपना प्रकोप दिखाएगी
तब यह दुनिया तहस-नहस हो जाएगी
रे मानव!
मैं करता हूं कर जोड़ अनुरोध बार-बार
प्रकृति से मत कर तू खिलवाड़।
प्रकृति से मत कर तू खिलवाड़।।
प्रकृति से मत कर तू खिलवाड़।।।

सिर कटी लाश

विपिन बिहारी

जन्म :
2 जनवरी 1965
शिक्षा :
बी.ए. आनर्स (राज.विज्ञान)
कृतियां:
20 कहानी संग्रह, 1 आलोचना
3 कविता संग्रह, 8 उपन्यास,
1 लघु कथा संग्रह,
विशेष:
साहित्य पर दो छात्र द्वारा पीएच. डी. की उपाधि प्राप्त एवं तीन छात्राएं शोधरत
संपर्क :
जगदेव नगर, डेल्हा गया (बिहार), पिन 823002 **मो.** 8298139504

बड़ी बस्ती का रास्ता छोटी बस्ती से होकर गुजरता था। रास्ता छोटी बस्ती को फाड़कर निकला हुआ था। रास्ते पर आवागमन देर रात तक बंद नहीं होता था। पहले गाड़ियां बहुत कम हुआ करती थीं, इक्का-दुक्का मोटर साइकिलें ही आती-जाती थीं। रास्ते के अगल-बगल के घरों के बच्चों को डर कम लगता था। लेकिन आजकल तो मोटर साइकिलें रेलमपेल हो गई थीं और हर मिनट-दो मिनट पर मोटर साइकिलें गुजरती रहती थीं। जिससे बच्चों के दुर्घटनाग्रस्त होने का खतरा अत्यधिक बढ़ गया था। मां-बापों को बच्चों की चिंता हमेशा सताती रहती थी। मोटर साइकिल सवार भी वैसे ही होते थे, किसे धक्का मारते हुए निकल जाएं। किसे रौंद कर फुर्र हो जाएं, जैसे छोटी बस्ती के लोग उनके लिए कीड़े-मकोड़े से लगते थे। कुछ छोटी-मोटी दुर्घटनाएं भी हो चुकी थीं। कुछ कहने पर गालियां भी सुननी पड़ती थीं, 'साले, देखते नहीं कि कौन आ रहा है। रास्ते को अपने बाप की मिल्कियत समझने लगे हो क्या? " छोटी बस्तीवाले मन मसोसकर रह जाते थे ख़क्या जमाना है, गलती भी और उस पर रंगदारी भी।

रात के समय की स्थिति तो और डरावनी हो जाती थी।रात में उस रास्ते से गुजरनेवाले अक्सर नशे में धुत होते थे।उस हाल में किस पर गाज गिर जाए,खासकर औरतें डरी-सहमी होती थीं, किसके साथ कौन बदतमीजी कर बैठे? शाम होते ही औरतें अपने दड़वे में समा जाती थीं।नजर आते थे सिर्फ मर्द और बच्चे। औरतों के नजर न आने से मर्दों को उनकी गालियां सुननी पड़ जाती थीं।जब कोई नजर नहीं आता था, तो वे बेलगाम गरियाते हुए गुजरते थे,"अरे, कहां छुप गया है रे भोंसड़ीवाला, गांड़ मरवा रहा है क्या अपनी मौगियन से।देखो,हम तेरे बाप जा रहे हैं।" कभी दरवाजे पर उनकी लात भी बज जाती थी," निकल बाहर,मादर चोख़हम फारवर्ड हैं,जो चाहेंगे कर देंगे।अगर आज चाहें तो घर में घुसके मारेंगे। नहीं जानता है, मेरे मौसा एमपी हैं। मेरा कोई कुछ

नहीं बिगाड़ सकता। तुम लोगों को हमारे रहमोकरम पर ही जीना है, जीना पड़ेगा। कुछ भी कर लो, हमारी रंगदारी कभी नहीं खतम होनेवाली है।" ऐसी नौबत रोज ही गुजरती थी छोटी बस्ती पर।छोटी बह्ती वाले मौन होते थे। उनका कोई भी प्रतिकार नहीं कर पाता था। इसके पीछे का कारण क्या था, यह समझने की चीज थी। छोटी बस्तीवालों का मनोबल तोड़ दिया गया था सदियों से। या वह खौफ था, जो बड़ी बस्तीवालों ने फैला रखा था छोटी-मोटी घटनाओं की आड़ में, जबकि शारीरिक रूप से छोटी बस्तीवाले उनसे मजबूत ही दिखते थे, लेकिन शायद उनकी मानसिकता गुलामों जैसी हो गई थी।

इसी दशा में छोटी बस्ती की कई पीढ़ियां गुजर गई थीं। छोटी बस्तीवालों ने कोई विद्रोह नहीं किया था। शायद वे मर गए थे—शायद उनकी आत्मा को कोई चोट नहीं लगती थी? शायद उनका नैतिक बल इतना तोड़ दिया गया था कि सारा कुछ गुजरने के बाद भी वे झंकृत नहीं हो पाते थे। लेकिन कब तक छोटी बस्तीवाले ऐसी जिल्लत भरी जिंदगी जीते रहेंगे, एक अहम सवाल था।

अचानक ही छोटी बस्ती में एक चिंगारी सुलग उठी थी। छेदी का बेटा फुटानी कॉलेज से आया था घर छुट्टियों में। वह पहला शख्स था, जो छोटी बस्ती से निकलकर शहर गया था पढ़ने। पढ़ने में वह क्या था, कैसा था, यह अलग बात थी, लेकिन उसकी जवानी उसके पोर-पोर से फूटती हुई नजर आ रही थी। गठीला बदन जैसे वह अखाड़े में अभ्यास करता रहा हो। हुआ ये था कि रामसूचित बाबू का बेटा परमिंदर शाम में पीकर बर्राते हुए छोटी बस्ती के रास्ते से गुजर रहा था कि उसकी नजर दशरथ की बहू सुखिया, जो रास्ते के किनारे गड़े हैंड पंप से पानी निकालने आई हुई थी, पड़ गई थी। फिर क्या था, उसकी बोली ही बदल गई, "क्या मेरी जान, क्या मस्त लग रही हो, कहां छुपी हुई थी अब तक...?"

परमिंदर की बातें सुनते ही सुखिया कुछ प्रतिरोध करने की बजाय घर के भीतर भागती हुई समा गई थी। भागने के क्रम में उसके हाथ से बाल्टी छूट गई थी। बाल्टी के जमीन पर गिरते ही एक आवाज हुई। आवाज सुनकर उसकी सास सोमरी चिल्लाने लगी, "क्या हुआ रे? "

"माय, देखिए न, बाहर कोई है, जो अंट-शंट बोले जा रहा है।"

सोमरी घर से निकलकर तेजी से रास्ते पर आ गई थी, परंतु वह गुस्सा करने की बजाय धीमी आवाज में ही बोली, ''क्या हुआ गंऊवा, इतना पी लिए हैं कि कोई दिखाई नहीं पड़ता? कुछ तो सोचिए-समझिए। ऐसे-वैसे काहे बोल रहे हैं? "

"हम बोलेंगे, क्या कर लेगी तू? अरे, एक-एक करके सबको चखेंगे हम, तुझे भी चखेंगे। कहां गई वो? " ऐसा लगा था कि परमिंदर सोमरी को ठेलते हुए उसके घर में घुस आएगा।

"ऐसा काहे करते हैं, हम भी अदमिए ही हैं। कुछ तो रहम कीजिए।" सोमरी जैसे गिड़गिड़ा रही थी।

लेकिन परमिंदर मानने के लिए तैयार नहीं था। इस बकझक की आवाज पूरी बस्ती में फैल गई थी। लोग ये जानने के लिए उतना बेचैन नहीं हुए थे, जितना होना चाहिए था, जैसे उन्हें पहले से पता था कि क्या हो रहा है। वे सिर्फ तमाशा ही देख सकते थे, कुछ बोल नहीं सकते थे। फिर भी वे दरवाजे पर निकल आए थे। उसी में एक था फुटानी। वह घर से निकलकर सोमरी और परमिंदर के पास आ गया था, हालांकि उसकी अम्मा सुबसिया ने उसे मना किया था, लेकिन वह माना नहीं।

"अरे बाबू, कहां जा रहा है? चल घर में। यहां रोज ही तमाशा लगता है।" सुबसिया ने फुटानी के हाथ पकड़ने की भी कोशिश की थी, लेकिन उसने सुबसिया का हाथ झटकते हुए चल पड़ा था।

"क्या बात है चाची? इस समय हल्ला-गुदाल काहे हो रहा है? " सोमरी से पूछा था फुटानी ने।

"कुछ नहीं हुआ बबुआ, ऐसे ही।" सोमरी अब भी चाह रही थी, बात बढ़े नहीं।

"तू कौन है और क्या कर सकता है? हमारी हुकूमत चलती है इस बस्ती पर, इस इलाके में। हम इस इलाके के राजा हैं। और इस बस्ती के सारे के सारे हमारे गुलाम हैं, और तू भी है। हम अपने गुलामों के साथ कुछ भी कर सकते हैं। हम दाता हैं और इस बस्ती के हमारे टुकड़ों पर पलनेवाले हैं। हमारी मरजी,जो चाहेंगे करेंगे। जो औरत हमें पसंद आ गई, उसके साथ हम मौज-मस्ती करेंगे।

इस बस्ती की सारी औरतों पर हमारा हक है। तू हमारा क्या कर सकता है? हम कई-कई औरतों के मालिक हैं।" परमिंदर इतना कहते हुए सोमरी के हाथ पकड़ने के लिए झपटा था। सोमरी अपने बचावे में झटके से पीछे हो गई थी। तभी फुटानी ने परमिंदर को थाम लिया।

"देखिए बाबू, अभी आप ठीक हालत में नहीं हैं। अपने घर जाइए। इस हालत में ये सब कीजिएगा तो किसी को भी बुरा लग जाएगा। जाइए महाराज, काहे टंटा खड़ा करते हैं? " फुटानी का गुस्सा फूटने लगा था, परंतु वह खुद को नियंत्रित किए हुए था।

"तू कौन होता है रे मादर... हमें मना करनेवाला, हमको चिन्हता है कि हम कौन हैं? हम अपने घर जाएं या नहीं जाएं, हमारी मरजी, तू कहनेवाला कौन होता है? " परमिंदर ने फुटानी पर हाथ चला दिया था।

जैसे फुटानी को इस बात का पता था कि ऐसा कुछ होनेवाला है, उसने परमिंदर का हाथ पकड़कर मरोड़ दिया और उसे जमीन पर पटक दिया, ''साला,समझा रहे हैं तो समझ ही नहीं रहा है, क्या समझ लिया है, हम आदमी न हुए, राह के ढ़ेला हो गए, सड़ा-गला जो भी आता है, जात के नाम पर ठोकरा जाता है। कहते हैं न कि नींबुआ ज्यादा गारने से तीता हो जाता है।" परमिंदर चित गिर गया था जमीन पर। फुटानी उसकी छाती पर चढ़ बैठा था।

छोटी बस्तीवाले भौचक्क थे—इ क्या हुआ? मधुमक्खी के छत्ते में ढ़ेला मार दिया। अब तो बवाल धइल है। गेंहू के साथ घुन भी पिसाएगा।

"अरे बबुआ, इ क्या कर दिया? इ बबुआन है। हम लोग के करम में ही है लात-जूता खाना। क्या करें, सब ईश्वर में ही दोष है कि हम लोगों को अछूत बनाया।" छाती ठेठाते हुए सुबसिया दौड़ी गई थी फुटानी के पास और उससे लटक गई थी, ''छोड़ इसको, इ क्या कर रहा है तू? ... अब ता...।" फुटानी ने परमिंदर के चेहरे-छाती पर कई मुक्के जड़ दिए थे। सुबसिया ने उसका हाथ पकड़ लिया था।

परमिंदर बदहवास हो गया था। जब वह छूटा तो गालियां बकते और धमकाते हुए बड़ी बस्ती की तरफ भागने लगा था, ''देख, अब हम क्या क्या करते हैं। साले, एक-एक को नहीं नापा तो फिर पैदाइश में फरक होगा।"

परमिंदर के जाते ही छोटी बस्तीवाले फुटानी को नोंचनै लगे थे। सोमरी बोल रही थी, ''मारपीट काहे के लिए किए, मेरा हाथ ही तो पकड़ रहा था। उससे मेरा क्या हो जाता? हम लोग तो इ सब रोज ही तो सहते रहे हैं। जब दैवा ने ही ऐसा बनाया है तो हम लोगों का कौन-सा जोर चलेगा? बबुआ, तूने तो आग ही लगा दिया। अब क्या होगा,अब तो भगवान ही जाने।"

"अरे, चुपकर। यहां सब मुरदा ही हो? डूब मर चुल्लू भर पानी में। आज तक क्या किए, चुप रहने के सिवा। तभी तो घर में घुस जाता है। बेटी-बहिन तक को नहीं बख्शता। इ धरती पर जीना है तो मुरदा बनके काहे जिएंगे। जब वो सताता है तो चुप रहने पर भी कहां छोड़ता है? तब काहे नहीं लड़के ही सताए जाएं। कुछ नहीं होगा। चुप देखते जाओ। कितना हल्ला-गुदाल करते हैं वे लोग। जो जिंदा हैं, वे मेरे पीछे आ जाएं। जो मुरदा हैं, अपने घर में लुका जाएं। मैं अकेला खड़ा हूं उनसे लड़ने के लिए। देखता हूं, वे मेरा क्या कर लेते हैं? "

"तू पगला गया है, भाग जा यहां से।" सुबसिया फुटानी को घर की तरफ ठेलने लगी थी।

"अरे माय, कुछ नहीं होगा, तू देखना।" फुटानी सुबसिया से खुद को छुड़ाने की कोशिश कर रहा था।

सुबसिया हार गई थी। उसका कलेजा रेलगाड़ी हो गया था..., फुटानी गया हाथ से। मौके पर वह रो भी नहीं सकती थी, लेकिन आशंकाओं से उसके हाथ-पांव सुन्न पड़ते जा रहे थे।

"कोई भी आए, देखता हूं, कौन क्या कर लेता है। रोज-रोज मरने से तो अच्छा है, एक दिन लड़ते हुए मर जाना। अरे, मैं अकेले नहीं मरूंगा, उनके दो-चार को मारने के बाद ही मरूंगा।" फुटानी बौंख रहा था। उसे रोकने की कोशिश भी कोई नहीं कर रहा था।

"बहुत अच्छा किया फुटानी भाय, हम भी चाहते रहे थे कि सबने हमारे हाथ बांध दिए। हमें रोज डराते हैं यह कहके कि बड़ी बस्तीवाले आदमी निगलते हैं।" पुकार का बेटा सुन्नर फुटानी की पीठ पीछे खड़ा हो गया

था, ''जय चाहे खय, आज फैसला होके रहेगा।"

फुटानी के पीछे सुन्नर आया तो फिर नोखा, मानिक और खेलावन भी आकर खड़े हो गए थे। उनके हाथों में हथियार के तौर पर कुछ न कुछ था। एक तरह से कहा जाए, हाथ में जो भी आया, वह उनका हथियार हो गया था। ऐसा भी लग रहा था, सदियों का गुस्सा आज परमिंदर के बहाने फुटानी के नेतृत्व में उबल पड़ा था। उनमें इतनी ताकत आ गई थी कि वे किसी भी बंदिश को तोड़ सकते थे।

परमिंदर चिल्लाते हुए बड़ी बस्ती पहुंचा था। उसे छोटी बस्तीवालों ने पीटा है, यह खबर जंगल की आग की तरह बड़ी बस्ती में फैल गई थी। अंधेरा कुछ गहरा हो गया था। लोग टॉर्च जला-जलाकर परमिंदर की हालत का मुआयना कर रहे थे। उसके चेहरे पर चोट के कई गहरे निशान देख रहे थे। छोटी बस्ती के नाम पर एक क्षण के लिए भौचक्क की स्थिति पैदा हो गई थी। सब्र का बांध आखिर टूट ही गया था। छोटी बस्ती ने पीट दिया? कौन सूरमा पैदा हो गया है वहां, एक बूंद भी नहीं डरा? परमिंदर, कौन है, कहां का है? लेकिन ये पूछनेवाला कोई नहीं था परमिंदर से कि आखिर ऐसा हुआ तो क्यों हुआ? गोया बड़ी बस्तीवाले को मारने-सताने का जन्मसिद्ध अधिकार मिला हुआ हो।

बड़ी बस्ती के कुछेक लड़के प्रतिक्रिया में छोटी बस्ती की दौड़ने वाले ही थे कि एक बुजुर्ग ने उन्हें रोका, ''ऐसे मत जाओ बाबू लोग। परमिंदर को ठोंकने की हिम्मत उन लोगों ने की है तो समझो, अचानक क्या हुआ कि वे यहां तक उतर आए? उनका गुस्सा है कि उनकी भी तैयारी है लड़ने-भिड़ने की सोच-समझ लो।"

बुजुर्ग की बात मानने-समझनेवाले लड़के कम ही थे। वे भालू-सियार की तरह हुहु आते हुए दौड़ते ही गए थे छोटी बस्ती की तरफ। जब वे छोटी बस्ती पहुंचे तो वहां सन्नाटा पसरा हुआ था। वे लोग बंद दरवाजे पर लात मारने लगे थे। उन्होंने दो-तीन दरवाजे पर ही लात मारी थी कि फुटानी और उसके पीछे कई लड़के आ गए थे, जिनमें सुन्नर प्रमुख था, ''कौन है रे?"

"तू है? आज तेरी तो, छठी का दूध उगला देंगे।"

"तब उगला ही लो। सब दिन क्या हम लोगों को साग-मुरई ही समझेगा? आओ,हम लोग भी तैयार ही हैं। देखते है कि कौन पीछे हटता है? मारेंगे या फिर मरेंगे।" फुटानी ने दहाड़ मारी थी।

फुटानी की दहाड़ दूर तक गूंज पड़ी थी।

बड़ी बस्तीवाले ठिठक गए थे फुटानी की दहाड़ से... ये क्या हो रहा था? पहली बार ही उन्हें चुनौती मिल रही थी। ऐसी चुनौती से निपटने के लिए उनकी कोई योजना नहीं थी। उन्हें उस समाज से चुनौती मिल रही थी, जो वंचित था। वंचित समाज अचानक जब चुनौती बनता है तो बड़े-बड़े दरिंदों की हिम्मत धाराशायी हो जाती है।वही यहां पर हो रहा था। लड़के जो गुदाल करते हुए आए थे, उनके पांव ठिठक गए थे। उन्हें ये समझ में नहीं आ रहा था कि वे अब क्या करें। उन्हें ये भी समझ में नहीं आ रहा था कि छोटी बस्ती में उनसे लड़ने के लिए कितने लोग थे।

रात गहरी होती जा रही थी।

"बहुत सता लिए तुम लोग। जब शांत पानी अचानक उफनने लगता है तो बड़ी-बड़ी हस्तियां नष्ट-विनष्ट हो जाती हैं। बहुत सह लिए।अब हम तेरी हुकूमत को मानने से इंकार करते हैं।"

बड़ी बस्तीवाले अपना-सा मुंह लिए वापस हो गए थे। जब कुछ होता हुआ नहीं देख बुजुर्ग ने, जिसने मना किया था, कटाक्ष किया था, ''लड़कर आ गए? बानर सेना की तरह बिना सोचे-विचारे ही दौड़ पड़े। कुछ तो समझना चाहिए था? हो गई न बेइज्जती? आज परमिंदर पिटाया है, कल कोई और पिटाएगा। अत्याचार का अंत एक न एक दिन होता ही है। क्यों पिटाया परमिंदर, अचानक उनके सिंग उग आए हैं क्या, कुछ तो ऐसा-वैसा किया ही होगा उसने?"

बुजुर्ग की बातों में जो भी दम रहा हो, लेकिन बड़ी बस्तीवाले एक सवाल से जूझने लगे थे। यदि तुरंत जवाब नहीं ढूंढ़ा गया तो एक दिन उनकी सामंती व्यवस्था भरभराकर ध्वस्त हो जाएगी। उन्हें किसी भी सूरत में अपनी व्यवस्था को बनाए रखना था। उनकी व्यवस्था उनकी पहचान है, उनका अस्तित्व है। इसके लिए वे किसी भी हद तक जा सकते थे।

फुटानी को कैसे रोका जाए, बड़ी बस्ती के मानिंदे लोग विचार कर रहे थे। सूर्यभान बड़ी बस्ती के मुख्य माने जाते थे। उन्होंने अपने लोगों को ललकारा था," जहां मिले फुटनिया, वहीं उस पर चहड़ जाओ। वह मरा जाता है तो समझो, एक बड़ा कांटा निकल गया पांव से। उसे मारना जरूरी है, नहीं तो उसकी देखा-देखी उसके जैसे और भी पैदा हो जाएंगे। उनकी संख्या नहीं बढ़नी चाहिए। वैसे लोगों को मारना अपराध नहीं होता। एक सामाजिक काम होता है। उसके मरने पर कोर्ट-कचहरी होती है समझ लेंगे।"

"लेकिन सवाल ये भी है कि अचानक ये सब कैसे हो गया? जमीन पर रेंगने वाला समाज, ताल कैसे ठोंकने लग गया?" सूर्यभान से राजेश्वर ने एक सार्वजनिक सवाल किया था, ''कहीं उसके पीछे कोई संगठन तो नहीं सक्रिय हो गया?"

"कोई संगठन भी उसके पीछे होगा तो उसे भी देख लेंगे।" सूर्यभान ताव खाते हुए बोले थे, ''बहुत देखे हैं संगठन, सभी धाराशायी कर दिए जाएंगे।"

बड़ी बस्ती की तरफ से फुटानी को धाराशायी करने की कोशिश शुरू हो गई थी।

फुटानी को भी इस बात का अंदाजा था कि उसके इस कृत्य के विरुद्ध कुछ होनेवाला है। वह अब आम इंसान नहीं रह गया था। उसे जिंदा रहना है तो फूंक-फूंककर कदम उठाने होंगे। उसने भी अपनी ताकत बढ़ाने की कोशिश शुरू कर दी थी। उसने एक गिरोह बना लिया था, जिसमें छोटी बस्ती के लड़के तो थे ही, कुछ दूसरी छोटी बस्तियों के भी लड़के, जो एक खास वर्ग के लोगों से परेशान थे, शामिल हो गए थे। साथ ही हथियारों से लैश होने की भी कोशिश की जा रही थी। फुटानी का मानना था, जब वह हथियारबंद हो जाएगा पूरी तरह तो आमने-सामने की भी लड़ाई में उसे दिक्कत नहीं होगी। वह आमने-सामने की लड़ाई चाहता था।

फुटानी के चाक-चौबंद होने की खबर बड़ी बस्तीवालों को भी मिल रही थी। उसका ही नतीजा हुआ कि बड़ी बस्तीवालों ने अपना रास्ता ही बदल दिया था। छोटी बस्ती से वे गुजरेंगे तो कब किसके साथ क्या हो जाए, कुछ कहा नहीं जा सकता था।

बड़ी बस्तीवालों के लिए फुटानी एक बड़ा सिरदर्द हो गया था। उससे कैसे निपटा जाए, एक आदमकद सवाल इर्द-गिर्द घूम रहा था। इस बीच फुटानी पर कई हमले किए गए, लेकिन वह हर बार ही बच निकला। उसके जवाब से बड़ी बस्तीवाले कई घायल भी हुए थे।

"साला फुटिया, कितना शातिर है कि हर बार बच जाता है।" सूर्यभान कह रहे थे, ''उस पर हमले बंद नहीं होने चाहिए। लगे रहो। कभी न कभी तो कोई छेद छोड़ेगा ही और हम उससे निपटने में सफल हो जाएंगे। जहां भी नजर आए, उस पर टूट पड़ो। लेकिन इतना ध्यान रहे, उसे कभी कमजोर मत समझना। उसे कमजोर समझने का मतलब है, अपना नुकसान कर बैठना।"

"इ तो भाय, अकेले ही सब पर भारी पड़ रहा है।" परमेश्वर बोले थे।

"कितना भारी पड़ेगा, और कब तक भारी पड़ेगा अकेला। अकेला चना भांड़ नहीं फोड़ता। ऐसे ही हम लोग राज नहीं करते हैं। साम, दाम, दंड, भेद जैसे अस्त्र से हम लोग लैश हैं। अभी उसे उड़ने दो। फिर ब्रह्मास्त्र चलेगा, जिससे उसे भगवान भी नहीं बचा पाएगा।"

"वो कैसे?"

"हम लोग जो अस्त्र चलाए हैं, उसे चलने दीजिए। फिर देखते हैं।"

फुटानी दिन-दिन पगता ही होता जा रहा था। दिन-दिन वह अभेद किले में तब्दील होता जा रहा था। बड़ी बस्तीवाले उसे रोकने में सक्षम नहीं हो पा रहे थे। कभी-कभी तो वे फुटानी के आगे भीगी बिल्ली नजर आते थे। एक समय ऐसा भी लगा था कि बड़ी बस्तीवाले फुटानी की जी हुजूरी में लगे हुए थे। सामने तो उसकी जी हुजूरी कर लेते थे, लेकिन उनके मन की टीस दब नहीं पा रही थी।

आखिर में सूर्यभान ने सुझाया था, ''फुटनिया ऐसे नहीं मराएगा, उसके गिरोह के किसी आदमी को फोड़ो। वह न माने तो उसे लालच दो। लालच बड़े-बड़े को भी हिला सकता है। उसे फोड़ने के लिए, जो फूट सकता है, उससे दोस्ती गांठों। वह बात-गाली देता है, सुन जाओ। क्यों नहीं फूटेगा?"

यहां पर फुटानी के खिलाफ ताकत का इस्तेमाल नहीं हो रहा था, बल्कि उसके आदमियों को तोड़ने के उपाय ढूंढ़े जा रहे थे।

पहले फुटानी के आदमियों को फोड़ने के लिए उस आदमी की पहचान की जाने लगी थी कि लालच में कौन बझ सकता है।

मशक्कत के बाद ही सुन्नर हाथ लगा था। बड़ी बस्ती के तीन लोगों को उसके पीछे लगाया गया था। तीनों ने उससे दोस्ती गांठनी शुरू कर दी थी। जब भी सुन्नर उनसे मिलता, वे कहने लगते, ''सुन्नर भाय, कैसे हो? चलो, कुछ खाते-पीते हैं। तू भाय, हीरा हो हीरा। बहुत अच्छा कर रहे हो। कोई कितना बर्दाश्त करेगा? सहने की भी एक सीमा होती हैं। जैसा करता है, वैसा ही पाता है। स्वर्ग-नरक कहीं दूसरी जगह नहीं है। इसी भूलोक में ही करम का हिसाब होता है। बड़ी बस्तीवाले आग ही मूतने लगे थे।"

सुन्नर को पहले ये बात जरा भी समझ में नहीं आई कि बड़ी बस्तीवाले उसकी इतनी खुशामद क्यों कर रहे हैं। हालांकि वह बेहोशियार बिल्कुल नहीं था। लेकिन इतना गुमान उसे जरूर था कि बड़ी बस्तीवाले उसके सामने कैसे बकरी बने हुए थे।

कई मुलाकातों के बाद कंचन नाम के शख्स ने कहा था, ''सुन्नर! एक दिन चलो हमारी बस्ती में। हम लोग तुम्हें अपना समझकर स्वागत करेंगे। बड़ी बस्ती के अंदर ही छोटी बस्ती आती हैं। बड़ी बस्ती का जब कोई नाम होता है तो उसमें छोटी बस्ती भी आ जाती है। समझो, बड़ी बस्ती भी तुम्हारी ही है।"

बहला-फुसलाकर तीनों ले आए थे सुन्नर को बड़ी बस्ती में। उसे सूर्यभान के दरवाजे पर बिठाया गया था। उसे देखने के लिए एक भीड़-सी उमड़ पड़ी थी। लेकिन सूर्यभान ने जल्दी ही सभी को अपने दरवाजे से हटा दिया था यह कहकर, ''यहां कोई तमाशा नहीं लगा हुआ है कि सभी का मनोरंजन होगा।

सुन्नर का भरपूर स्वागत किया गया था। वह स्वागत से फस्त-पस्त हो गया था।

"तुम हमारे आदमी हो। कहो, तुझे क्या चाहिए... धन-दौलत, खेती-बाड़ी। तुझे कुछ भी देने के लिए तैयार हैं हम लोग। हम मानते हैं कि हमारे पूर्वजों से कुछ गलतियां हुई हैं और आज के कुछ लोग भी उसी गलतियों को दुहरा रहे हैं, जबकि ऐसा बिल्कुल नहीं होना चाहिए।" सूर्यभान सुन्नर के आगे बैठे हुए थे।

"आप कहना क्या चाहते हैं?" सुंदर ने पूछ दिया था। वह चोकन्ना भी था।

"कुछ नहीं।"

"तब फिर? "

"देखो सुंदर! तुम हमारे बन जाओ। फुटानी के साथ रहकर तुझे क्या मिल रहा है? उसके साथ रहते हो तो तेरी जान पर भी खतरा बना रहता है। तुम कब मारे जाओगे, कोई नहीं जानता।"

"मुझे कौन मारेगा? "

"हम लोग मारेंगे।"

"तब मारते क्यों नहीं?" सुंदर अचानक भड़क उठा था।

"हम तुझे यहां मारने के लिए नहीं बुलाए हैं।"

"तब काहे लिए बुलाए हैं? "

"तुझे अपना बनाने के लिए।"

सुन्नर शांत हो गया था। सूर्यभान को लग रहा था, सुन्नर से अपने मन की बात कैसे कहें। वे असमंजस में दिख रहे थे। इसी असमंजस में देर तक चुप्पी सधी रही थी।

"हम चलते हैं।"

"अरे बैठो न भाय, हड़बड़ाते हो क्यों? तुमसे अभी बहुत बात बतियानी है।अरे! कुछ लाओ सुन्नर के लिए।" सूर्यभान चिल्लाए थे, ''देख सुंदर, फुटानी से हम लोगों को मुक्ति दिला दो। यह काम तुम ही कर सकते हो, और तुझे जो चाहिए, हम लोग पूरा करने के लिए तैयार हैं। छोटी बस्ती से लगी कुछ जमीनें हैं, वे तुम्हारे नाम। तुम हमारे बन जाओ। फुटानी नहीं भी रहेगा तो छोटी बस्ती की तरफ कोई आंख उठाकर नहीं देखेगा। वैसे हम लोग रास्ता बदल ही चुके हैं। इतना कम है क्या? छोटी बस्ती से अब कोई नहीं आता-जाता।" सूर्यभान ने जाल फैंका था सुन्नर पर।

सुन्दर मौन था। सूर्यभान उसका चेहरा देख रहे थे बड़े गौर से। लगता था सुन्नर उनके जाल में फंस रहा था।

अचानक ही सुन्नर बोल पड़ा था, ''मुझे धोखा तो नहीं न देंगे?"

"नहीं भाय, हम एकजनमिया हैं। हम जान दे सकते हैं, लेकिन जबान से कभी नहीं मुकर सकते। शक लगे तो आजमा कर देख सकते हो।" सूर्यभान भीतर से बल्लियों उछलने लगे थे। अपनी सफलता पर-चिरैंया फंस गई जाल में। अब देखते हैं बेटा कब तक तू बचता है?

सुन्नर का बड़ी बस्ती में आना-जाना शुरू हो गया था। बड़ी बस्तीवाले उसके सम्मान में बिछ-बिछ जाते थे। कभी-कभी तो ऐसा लगता

था कि वह बड़ी बस्ती का दामाद हो। सम्मान पाकर वह थई-थई हो जाता था और पछताने भी लगता था। बेकार में उसने रार मोल ले लिया था बड़ी बस्तीवालों से, ये लोग तो...। सोचते समय वह पिछला इतिहास बिल्कुल भूल जाता था। वर्तमान ही उसका सच होता दिख रहा था।

और फिर एक दिन फुटानी की सिर कटी लाश मिली। अफवाह तो यहां तक उड़ी कि फुटानी का सिर काटनेवाला बड़ी बस्ती का कोई नहीं था, बल्कि सुन्नर ही था। फुटानी सोया हुआ था और पूरी योजना के साथ सुन्नर ने...

बड़ी बस्ती में जश्न मनाया जा रहा था। फुटानी के मरने पर सभी खुशी से तहबोर थे। पैर का सबसे बड़ा कांटा निकल गया था। सूर्यभान अपनी मूंछों तले मुस्कुरा रहे थे। उनकी साम, दाम, दंड, भेद की नीति काम कर गई थी। वे अजेय हैं। उनका किला कभी नहीं ध्वस्त हो सकता है। इसी जश्न के माहौल में सुन्नर उनके बीच चला गया था। सूर्यभान को उनकी जबान याद दिलाने। सुर्यभान ये कहते हुए ठठाकर हंसे थे, ‘‘जो तुम्हारा अपना था, उसका नहीं हो पाए तुम... और कौन-सी जबान? मैंने किसी को कोई जबान नहीं दी है। फुटानी मरा गया। वह एक डर था हमारे बीच। जब डर ही समाप्त हो गया तो तुम क्या चीज हो?'' अब सुन्नर पछता रहा था कि रो रहा था कि सुन्न हुआ जा रहा था? जश्न के माहौल से वह चुपके से निकल आया।

विजय वास्तविक की दो कविताएं

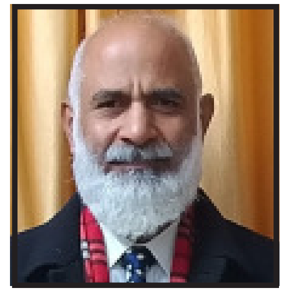

जन्म स्थानः नवांशहर पंजाब, शिक्षाः दिल्ली विश्वविद्यालय से विज्ञान स्नातक। दिल्ली विश्वविद्यालय, बी.एससी. की पढ़ाई पूरी की और विज्ञान को समझने के बाद कई तरह के व्यापार किए। नौकरी कभी नहीं की। अपने अध्यन, शोध, विश्लेषण और अनुभव को समाज के सम्मुख प्रस्तुत करने के लिए वैचारिक लेखन, कविता और ग़ज़ल लेखन में सक्रिय हो गए। उनके लेखन कार्य का एकमात्र उद्देश्य चार्वाक, महावीर, बुद्ध, कबीर और रैदास की विचारधारा का संरक्षण और पोषण करना है तथा विचारों को अपने अंदाज में समाज तक पहुंचाना है। और समाज में व्याप्त ऊंच-नीच, भेदभाव, जातिवाद, ब्राह्मणवाद को खत्म करना है।

सुकून

चला था जानिब ए मंजिल मगर
सफर में ये क्या हो गया

समझ रहा था जिसे मंजिल
सफर वहीं से शुरू हो गया

पुरानी जानी-पहचानी सी हैं राहें
इन्हीं राहों में गुमराह हो गया

छोड़ दिया था गांव शहर के लिए
मुड़कर देखा मेरा गांव ही शहर हो गया

धोका मिला हैं सफर में बेइंतहा
पैर तो क्या जिगर भी लहुलुहान हो गया

उम्मीद थी जमाने से जब तक
जीना ही दुश्वार हो गया

उम्मीद खुद से है अब जमाने से नहीं
ये सबक मेरे दिल का सुकून हो गया

जमाने की हकीकत जानी है जबसे
मैं खुद से रूबरू हो गया

सुकून की तलाश में सफर करता गया
सफर ही जिंदगी का सुकून हो गया

शैतान

गुनाह करके अफसोस कर ले जो
उस इंसान में ईमान बसा है

गुनाह करके उफ भी न करे जो
उस इंसान में शैतान बसा है

जरा गौर से तो देखो यारों
वो शैतान किस जगह बसा है

हर मुल्क को देख लिया हमने
हर मुल्क में शैतान बसा है

हर शहर को देख लिया हमने
हर शहर में शैतान बसा है

हर मकान को देख लिया हमने
हर मकान में शैतान बसा है

हर दिल को देख लिया हमने
हर दिल में शैतान बसा है

खुद पर गौर किया जब हमने
शैतान तो हम में भी बसा है

कथा-कहानी मंच

शहीद

डॉ. टेकचन्द

जन्म एवं शिक्षाः 1975 दिल्ली
दिल्ली विश्वविद्यालय के स्वामी श्रद्धानंद कॉलेज में 2005 से हिंदी शिक्षण

लेखनः
तीन कहानी संग्रह, एक लघु उपन्यास, एक उपन्यास प्रकाशित

सम्मानः
डॉक्टर अंबेडकर विशिष्ट सेवा
हरियाणा दलित साहित्य अकादमी
राजेन्द्र यादव हंस कथा सम्मान,
समय संज्ञान त्रैमासिक पत्रिका के संपादन से जुड़ाव।

पताः
फ्लैट न. 58 बागबान अपार्टमेंट,
जीएच-2, रोहिणी सेक्टर 28,
दिल्ली 110042

जोधपुर! वीर बहादुरों की भूमि। धरती माता पर प्राण न्योछावर कर देने वाले रणवीरों की धरती।

"भंवर युद्धवीर सिंह जी राठौड़ शहीद हो गये! पूरे इलाके में यह खबर भतूलिये (बवंडर) की तरह फैल गई। भाम्भीवाड़ा से लेकर रजवाड़ा, बामनवाड़ा से जटवाड़ा तक विविधता उत्सर्ग बलिदान का भाव विस्तृत हो गया। जोश उत्साह साहस और गौरव का संचार सारे क्षेत्र में करंट की तरह फैल गया। राजपूताने में इस मृत्यु का उत्सव मनाया जा रहा है।

"कुंवर सा! धरती को लाल ध रती की गोदी में चलो गयो! इसमें आपको शोक नहीं मनावणों चहिए! धरती के सपूत का मान-सम्मान होणा चाहिए..."

"कुंवर सा! थारा दादा परदादा नै मुसलमानां का साथ युद्ध करयो थो! वो परंपरा, वो विरासत थारा वीर बहादुर नै कायम राखी, उनको नाम सोना का अक्षरां मैं लिखा जाणा चाहिए..."

इस प्रकार त्याग बलिदान की लहर, शहादत का समुद्र ठाठें मारने लगा। अगले ही दिन इलाका पोस्टरों मुनादियों से भरा हुआ था। "वीर शहीद युद्धवीर सिंह जी राठौड़ की शहादत को कोटि-कोटि प्रणाम!

सारा इलाका क्षेत्रवासियों नैं खम्मा घणी! शहादत का इस पावन अवसर पर राजपूताना वीरभूमि पर विशाल आयोजन कियो जा रहयो है... सभी आम खास तै दरखास्त है और आदेश है रजवाड़ों की ओर सूं! पूरी संख्या मैं पहुंचकर धरती माता के वीर शहीद नै अपणी श्रद्धांजलि अर्पित करजो सो डम डम डम डम डम डम डम

या पावन मौका पर परम आदरणीय सीएम साहब पधारेंगा... बड़ी संख्या मैं केन्द्रीय कैबिनेट मंत्री और देश भर का खास वीआईपी भी पधार रहया हैं ` साथ ही रजपूती सभा को भी आयोजन करयो जा रहयो है

डम डम डम डम डम डम...

और देखते ही देखते यहां की रेतीली भूमि युद्ध भूमि में तब्दील हो गई। पूरा क्षेत्र इन पोस्टरों, घोषणाओं और वीर रस के गीतों से ओतप्रोत हो गया।

चार गोली खाया शहीद देखते ही देखते चालीस गोलीयां प्रचारित हो

गया। टैंक की नाल से छप्पन इंच का सीना सटा दिया। टैंक का गोला भी दीवाली के पटाखे सा फुस्स हो गया। सांसें टूटते-टूटते भी कईयों को मार गिराया... आदि इत्यादि।

भाम्भीवाड़ा की कच्ची रेतीली गलियां खत्म होने के बाद थोड़ा ऊंचाई की तरफ चढ़ते हैं तो राजपूत रजवाड़ों की पक्की चौड़ी गलियां-सड़कें शुरू हो जाती हैं। सेठों की ऊंची हवादार हवेलियां और भी ऊंचे ऊंचे किले-परकोटे, मजबूत ऊंची दीवारें। भारी विशाल द्वार। ऐसी भव्यता कि देखकर तन मन में सिंहरन दौड़ जाए, पंजे उखड़कर जमीन छोड़ने लगे। पिंडलियों में कंपन होने लगे। ढाणी, वास, बस्ती, गांव, पट्टी, मथारा सब उमड़ पड़े।

इस धरती के ठाकुर नहीं साक्षात ईश्वरीय ठाकुरों के महल चौबारे। आज इन्हीं की साफ-सफाई कर चमका दिया गया था। जैसे धूल साफ होते ही तस्वीर एकदम साफ नजर आ जाती है। पुश्तैनी काम-धंधे छोड़ते जा रहे सभी कामगारों को सेवा में लगा दिया गया था।

"रै तीरथ भिश्तिया! पखाल (मशक) भर और सारा गलियारा नैं धो दे!"

"मालिक इब तो सारा काम धंधा छोड़ दिया हैं... बालक फैक्ट्री में लग गया हैं... तो उन नै पखाल गडाल (टांड) पै धरवा दी है!"

"गडाल पर धरवा दी है तो उतार गडाल पर तै ना तो कुंवर सां तेरी खाल उतरवा लेवेंगा...!

रै कौण सो तेरी मशक तै ही सफाई धुलाई होवैगी ? बस नेग शगुन सो कर दियो! रजवाड़ा नै दिखाई पड़णों चाहिए कि भिश्ती, भाम्भी, मोची, खाती, कुम्हार, नाई, धोबी वगैरहा सब और जितणां भी सेवादार हैं सब सेवा में हैं.... अब बता इस्टेट मुनीजर म्हारा पिताजी था ना ? पर यो रिवाज भी तो निभाणों है ना! तो घूम रहयो हूं इस्टेट मुनिजर बणों..."

बस सभी को आज परंपरागत काम धंधे मिले हुए थे। यूं काम तो मशीनों से भी हो सकते थे परंतु मशीन की गुलामी वह मालिकाना सुख वह सुकून कहां दे पाएगी जो अपना जर खरीद गुलाम अहम को संतुष्ट कर देता है। तो सभी को सेवा पर लगाया गया था।

"रै चमन माली ! पूरो रजवाड़ो सजणो चाहिए! सड़क और गलियां ढंक जावै! वीआईपी आवैंगा, वीआईपी का पांव धरती पै ना पड़ै फूलों पै ही रखा जावै! और फूलां तै महक जावै गलियां !"

"जी मालिक! फूल वाला तो इब मेरा कोंटैक्ट मैं ना रहया तो मंडी से फूल मंगवाणां पड़ेंगा कई मण फूल... अगर उनतै काम चल जावै तो.... बस फूलां की पेमेंट टाइम पै हो जावै...."

चमन माली ने बहुत डरते हुए फूलों की पेमेंट वाली बात दबे सुर में कही और तथाकथित मैनेजर ने उसे सुनकर भी अनसुना कर दिया।

अपार जनसमूह उमड़ पड़ रहा था। एक ओर तो राजपूत वीर की शहादत की गौरव- गाथा गाई सुनाई जा रही थी । दूसरी तरफ यह भी चर्चा थी...

"सुणा है चुनाव होण वाला हैं ये सारा तामझाम उसी खात्तर है... पर हम तो कुछ कह ना सकैं... छोटा मुंह बड़ी बात भाया!"

तो शहीद की शहादत और बलिदान का यह जो अभूतपूर्व जलसा हुआ सारा इलाका स्तब्ध रह गया। हाथियों की सवारी निकली, सेना का मधुर जोशीला बैंड बजा, महाराणा प्रताप तथा अमर सिंह राठौड़ और अन्य वीरों की परंपरा में भंवर युद्धवीर सिंह राठौड़ को शामिल किया गया। देसी राजे रजवाड़ों का जमावड़ा हुआ। शासन-प्रशासन का सारा अमला भी जुट गया। विदेशी भी जुटे। भव्यता दिव्यता का संगम। कलाकार वीर रस से सराबोर रासौ गा रहे थे।

सभी लोग अपने आपको धन्य मान रहे थे। अभिभूत थे। भव्य दृश्य था। मंत्री जी सीधे हेलीकॉप्टर से उतरे। हेलीकॉप्टर को देखने के लिये पूरे इलाके में भगदड़ सी मच गई। सुरक्षा घेरा ना होता तो लोग छू ही लेते उड़नखटोले को, खुड़कावाली चीलगाड़ी को। जहां आज भी हवाई जहाज को चीलगाड़ी कहते हैं तो हेलीकॉप्टर हुआ खुड़कावाली चीलगाड़ी।

ऊंची हवेलियों परकोटों से घिरे बहुत बड़े मैदान में जो रेगिस्तान का मरुद्यान था विशाल बाग बगीचा बन गया था। उसी के बीचों-बीच सीएम तथा अन्य मंत्रियों ने पूरे राजसी ठाठ-बाट, शान-शौकत से अमर शहीद भंवर युद्धवीर सिंह जी राठौड़ की विशाल प्रतिमा का अनावरण किया।

लोग हैरान थे। दस पंद्रह फुट ऊंचा चबूतरा फूलों की लड़ियों से ढंका हुआ था। उसके ऊपर भगवा

पर्दा तना हुआ था। उसकी बगल में अस्थाई सीढ़ियां बनाई गई थीं। साथ ही मंच। जब उस पर चढ़कर मंत्री जी व अन्य गणमान्य व्यक्तियों ने एक डोर खींची तो जय जयकारे गूंज उठे।

अमर शहीद भंवर युद्धवीर सिंह जी राठौड़ की मकराना के भूरे भक्क दूध से सफेद मार्बल की मूर्ति प्रकट हुई। भंवर युद्धवीर सिंह जी राठौड़ वह भी चेतक घोड़े पर सवार। घोड़े का पत्थर भी मोती सा सफेद। साक्षात अमर सिंह राठौड़ सां।

"जणूं मूरत ना है भंवर सा बोल पड़ेगा..."

"एकदम सचली मूरत! ऐसी जीवती मूरत जणूं चाल पड़ेंगा भंवर सा घोड़ा नै ऐड़ दे कै..."

ढोल नगाड़ों की ढम-ढम-ढम के साथ देर तक हवाई फायर किए जाते रहे।

हालांकि किलों के दोनों तरफ तोपें भी सजी-धरी थीं मगर वे अब सजावटी ही रह गई थीं। उम्मीद नहीं कि उनके भीतर के कलपुर्जे भी उनमें मौजूद हों। बस सिंहरन पैदा कर सकने वाला डीलडोल बाकी था। हवाई फायरों ने ही आसमान और इलाका गुंजा दिया। जयकारों के बीच ही मंत्री जी ने अपना भाषण भी दाग दिया। ऐसा माहौल बन गया कि लोग स्वयं ही देश के लिए मर मिटने को तत्पर हो गए....

"अमर शहीद भंवर युद्धवीर सिंह जी राठौड़ को नमन करूं हूं! और आप सबनैं खम्मा घणी! वीरां की इस धरती पै वीरां की खात्तर, राजपूत वीरां की शान बान मरजादा खात्तर कहो भी गयो है कि...

"बारहां बरस लौ कूकर जीवै...
तेरहां जीवै सियार...
बरस अट्ठारह छतरी जीवै
आग्गै जीवण तै धिक्कार"

जनता अर्थ नहीं जानती थी मगर तुकबंदी पर फिदा थी। जयकारे गूंज उठे। लोग अभिभूत और विस्मित थे।

और विस्मित थे बहादुर के पिता अमराराम, जो मश्कें भीगते बहादुर को साथ लेकर आए थे। फूलों के रंगों से सारा क्षेत्र सज महक रहा था। बहादुर के पिता अमराराम ने इन रंगों को इस सज धज को मन में बसा लिया था। इसी दिव्य भव्य गौरव को उन्होंने अपने जीवन का अंतिम उद्देश्य बना लिया था।

"बहाद्दर की मां! सैंकड़ा साल का दलिद्दर उमर भर जीवण तै चोखो ऐसी मौत मरै के घर-खानदान माणस जूण पा ज्या..."

ज्वार-बाजरे की मोटी रोटी को लाल मिर्च की चटनी से खाता और छाछ घूंटता बहादुर उत्साह से भरा लग रहा था। कि वह निमित्त बन जाए परिवार को जिवा देने का।

संभवत इसी सपने को सच करने के लिए बड़ी बहादुरी से दुस्साहस के साथ पिता ने नाम रखा बहादुर। रजवाड़े में इस बात का पूरा ख्याल रखा जाता था कि भाम्भीवाड़ा में किसी के नाम में सिंह ना लगे। ऐसा कोई भी नाम ना रखा जाए जिसके कारण वीरता धीरता गर्व गौरव की ध्वनि ना आए। इनके नाम से कोई राजपूत वीर कलंकित ना हो। पिता के मन में भी कहीं ना कहीं वह सपना जगमगा रहा था। बुझा नहीं था फौजी बनने का सपना जो उसने बेटे में बहादुर नाम के साथ ही रोंप दिया था। तीन भाइयों एक बहन के बाद सबसे छोटा था बहादुर। बहादुर नाम पर राजपूताने में कोई बहुत ज्यादा हलचल नहीं हुई थी।

"भाद्दर! यो ठीक है मरा... बहादुर तो नेपाली चौकीदार हुआ करै हैं"

कुंवर सा ने कहा। कुंवर सा उसे भी अमरा या अमराराम नहीं कहते थे। अमरा राम में से वीर राजपूत अमर सिंह राठौड़ के नाम की सी गंध आती थी। इसलिए अमराराम के अ को खाकर कुंवर सा उसे "मरा" कहते थे।

उसमें ध्वनि पहले ऊंम... की सी निकलती फिर "मरा" शब्द प्रस्फुटित होता। यूं अमराराम इस भेद को समझ रहा था।

सारे परिवार ने जोर लगाया तो बहादुर बी.ए. तक पहुंच ही गया। चाहते ना चाहते बारहवीं तक आते-आते उसका ब्याह कर दिया गया और बी.ए. पास होते होते एक बेटी भी हो गई। बहादुर ने किताबें पढ़ कर बीए किया था। किताबी ज्ञान किताबों तक ही सीमित रहा। गांव में तो आज भी मान्यता ही सबसे बड़ा ज्ञान माना जाता है।

"मौजड़ी चाहे सोना की हो पहनी तो पांव मैं ही जावेगी सिर पै तो ना धर ली जावेगी ?

ये सब नीच कमीण दो आखर पढ़ गया हैं इसको यो मतबल तो कोनी के अपणा आसण पै बिठा लेवां!"

बेटी का आगमन शुभ रहा। बहादुर फौज में भर्ती हो गया। घर में खुशियों

की बरसात हो गई। जोधपुर के सूखे इलाके में जहां दूर–दूर तक पानी का कतरा भी नहीं था वहां बेटे ने आंखें छलका दीं।

"हमनै तो कदी सोची भी ना थी कि बेटा का साथ इस रेगिस्तान तै बाहर जावेंगा पर बेटा नै दुनिया दिखा दी... दुनिया की सौगात लाकर यहां धर दी..."

"जुग जुग जीवे म्हारो लाल..." बहादुर की मां वाकई खुश थी। वह हर रोज उसे आशीष देती। उसके भेजे तेल, साबुन, शैंपू से पोती को नहलाती तेल लगाती। जो यहां धनवान लोगों को भी नहीं मिलता था। यहां के अन्य लोगों के मुकाबले किस्तूरी का परिवार खुशबू मारता था। यह खुशबू जल्दी ही रजवाड़ों तक पहुंच गई।

महकने दहकने चहकने का जन्मसिद्ध अधिकार तो बस कुंवर सां, भंवर सा को ही था। बातें होने लगीं–

"रै बीसल सां थम कांये का चुहाण–रजपूत ? वो दलिद्दर–शूद्दर को थारा बताया सास्त्रां नियमां नै तोड़ण लग रहयो है....? और साथ में शास्त्र ज्ञान भी दे दिया जाता।.. ढोल गंवार शूद्र.."

बीसल भी अपनी बेबसी लाचारी जता देता–

"फौज में है ना काका... और गौरमिन्ट भी इनकी ही सुणै है... ईब वो राजपाट ना रहया कि जंईयां मरजी हुकुम दे देवै था... कोई ना मैं तो ताक मैं हूं.. कोई मौको मिलै तो रगड़ दूं साला नै...."

अब बहादुर के पिता को भी घर पड़ोस मोहल्ले में सम्मान मिल रहा था। पत्थर की खाणियों की जलाऊ झिलाऊ दिहाड़ी बेगारी छोड़कर उसने छोटी सी दुकान कर ली थी। दुकान क्या घर के बाहरी कोठरी जो कुछ समय पहले ही पक्की की थी, उसमें रोजमर्रा की जरूरत की चीजें भर ली थीं। बहादुर पिछली बार छुट्टी आया तो साइकिल छुड़वा कर एक लूना मोपेड ला दी थी–

"बापू जी ईब थम सैकल घसीट कै पेट मैं नलां मत करवाओ! लूना चलाओ"

आश्चर्य मिश्रित खुशी से पिता ने कहा–

"लूणां? हम कईया लूणा चलावै? सैकल पर जावती बार तो उतरणों पड़ै है बार–बार... उनकी हवेलियां कै सामने से गुजरती बार... फिर लूणा तो कच्चा रास्ता तै ना जा सकै है...? सैकल नै तो ऊपर उठा लो... पर लूणां...? और ऊपर तै छोरी हो री है यां का ब्याह खात्तर भी सोचणों पड़ेगो....!"

पिता की खुशी पर शंकाएं, डर रिवाज हावी थे। पीढ़ियों का दर्द उनके स्वर में था।

बहादुर की बिरादरी तो उस पर गर्व करने लगी थी लेकिन राजपूताना में उसे लेकर बहुत अच्छा माहौल नहीं था।

"ठाकुर साहब गया वो बखत! के सुथरा लत्ता और मौजड़ी आपका तन पै ही सजै–धजै करै था... अब तो ढेड़ कमीण भी धरती पै पांव ना टेकता... अब तो ढेड–कमीण भी फौज मैं जा के पवित्तर हथियारां नै झू ले है... इस अशराम का बहादुर मैं बहुत घमंड है..."

"हूं.... कुछ तो करणों पड़ेगो.."

"कुछ करो कुंवर सां ना तो वो कहावत है ना के... इनतै बात जब करें जब हाथ मैं जूत्तो होये..."

बहादुर को काबू करना सारे रजवाड़े के लिए मुश्किल होता जा रहा था। कितनी ही बार तो वह फौज की पूरी वर्दी और बंदूकधारी साथी फौजियों के साथ घर पर होकर गया है। जब कभी भी जैसलमेर बॉर्डर पर या आसपास कहीं उसकी तैनाती होती फौज की गाड़ी में वह खड़े–खड़े ही सही एक आध घंटे के लिए भी आ धमकता। उस समय पूरे भाम्भीवाड़ा में भगदड़ सी मच जाती और हलचल रजवाड़े तक पहुंच जाती।

देखते ही देखते उसका परिवार एकदम तरक्की कर गया। फौज की खुराक पाकर बहादुर गबरू जवान हो गया। तो तनख्वाह पाकर मां–बाप में आत्मविश्वास का संचार हुआ। भाई भी आजू बाजू के खाली पड़े प्लॉट में घर बना कर इज्जत से रहने लगे। बहादुर की पत्नी का बनाव शृंगार घर बिरादरी की अन्य औरतों से बेहतर हो गया था। कुंई पर पानी लेने जाती–आती तो गली भर की औरतें उसकी संगत चाहतीं। और हंसी ठिठोली करती, "कांय री कोयलिया अब तो तू भी फौज में जावेगी?"

"ना जीजी ऐसो तो नाय है..."

"नाय री हमनै सुणीं ईब कै देवर जी थान्नैं ले कर जावेंगा... और थारा सास सुसरा भी तो जाण की कह रिया बतावैं..."

कोयलिया लजा जाती। खुश तो वह भी थी कि कश्मीर देखने को

मिलेगा।

दूसरी कहती, "हां घूम आ कोयलिया फेर तो बेटी चिंया को नाम लिखवाणों पड़ेगो इस्कूल मैं... फेर कैंयां निकलो जावै है...?"

सुख सौंदर्य में गुणात्मक वृद्धि कर देता है। सुखी मन की झलक चमकते तन और मन की उमंग में दिखाई देती है। पांव ऐसे उठता है जैसे रेगिस्तान और पहाड़ को लांघ जाएगा। कोयलिया भी खूब सुंदर हो चली थी। रंग-बिरंगे कमीज और घूंघट में भी उसका यौवन ठांठे मारता छलक पड़ता था।

बहादुर को एक साथ दो मोर्चों पर लड़ना पड़ रहा था। एक, तो सुंदर पत्नी प्यारी सी बेटी से दूर रहकर फौज में रहना। दूसरा मोर्चा जाति का, जो हर रोज जीतना पड़ता था। हवलदार होते हुए भी उसे वह सम्मान नहीं मिल पा रहा था। रंगरूट भी उसकी अवहेलना करते थे। अक्सर उसे साहब लोगों के बंगलों पर तैनात कर दिया जाता। रक्षा नहीं सेवा।

सेवा साहब की हो तो भी चल जाए। यहां तो साहब की हेकड़ी बाज घरवाली नकचढ़े बदतमीज बालक और बहुत बार घमंडी रिश्तेदारों की सेवा टहल। साहब के कुत्तों बिल्लियों को भी साहब वाला सम्मान देना। कोई भी उसे किसी भी तरह धमका सकता था। साहब लोगों के बंगलों से शिफ्ट होकर जब यूनिट बैरक पहुंचता तो उसका स्वागत रम करती। साथियों के बीच बैठ दो-चार घूंट मार कर वह मन की बात कहता।

"रम्म मिटा दे गम्म"

दूसरे फौजी साथ देते

"बोल बम बोल बम बोल बम"

हंसी मजाक के बीच सभी पी रहे होते। मगर बहादुर जैसे शराब नहीं खून के घूंट पी रहा होता। सब कुछ और बतला रहे होते मगर वह बड़बड़ा रहा होता, "नाम बहादर! रैंक हवलदार! तैनात बॉर्डर पर! काम! धरती मां की रक्षा करना! अच्छी बात!''

जय श्री राम!

भारत माता की जय!

का नारा लगाकर टूट पड़ो टारगेट पर। और टारगेट?

टारगेट अफसर का कुत्ता की टट्टी!

टारगेट अफसर की घरवाली की जूती-चप्पल

टारगेट अफसर का बालकां का कच्छा बनियान!

उसकी बात बीच में काटकर उसी के जिले का एक साथी कहता, "रै बहादुर साब कांय अंट शंट बके जा रहया हो? रै थमने कच्छा बनियान छूणैं को मौको तो मिल गयो... यो आरक्षण ना होतो तो गाम का बाहर जोहड़ कीचड़ मैं पड़या रहो था... डांगरां मैं डांगर अर जिनावरां मैं जिनावर... अब दो रोटी सुख तै मिल गई तो बातां करैं..."

"...बात क्यों ना करैं ठाकर...? मैंने टेस्ट पास करयो.. बराबर ट्रेनिंग ली... बराबर सारी ड्यूटी करी...! क्यूं ना करूं ठाकर...?

नशे में दूसरा भी उबल पड़ता

"..शट अप यू इडियट ..!"

"...थारे से सीनियर हूं मैं..! रैंक को ख्याल रख, ना ता फ्रंटरूल लगवा दूंगा... एक जिला को है तो क्या फौज का रूल फॉरगेटिंग यू इडियट!"

"..जी स्साब ..!"

कह कर ढीला-ढाला बहादुर सेल्यूट मारता पर हिलता भी रहता। उसका शरीर झूम रहा होता। पर दिमाग में यह सारी पॉलिटिक्स टक्करें मार रही होती। फिर वह मक्खन लगाने वाली मुद्रा में पूछता-

"स्साब मे आई गो टू बाथरूम.. प्लीज परमिट स्साब...?"

"...यस यू कैन गो... बट रिटर्न इमीडेटली...!"

"..ज्जी स्साब!"

कहकर बहादुर उठकर लड़खड़ाता था बैरक से बाहर आ जाता। बाहर के अंधेरे में जहां दूर-दूर तक छावनी थी ।

बहादुर की तरह अन्य साथी पेड़ की आड़ तलाश रहे होते। अंधेरी रात में पेड़ों से बतियाता बहादुर गालियां उच्चार रहा होता-

"..साला बणैं हैं ठाकर... बहणच्यो... मादर... जात.. बणैं हैं अफसर की पूंछ... म्हारा पुरखां चूस मारा... इब म्हारा हाड़ खून खा रहया हैं... यहां देस सेवा मैं आया हैं या इनकी लुगाईयां का जूत्ता-लत्ता धोण खात्तर...?

वह पेशाब कर रहा था और जैसे पेशाब में ही इन अफसरों की जाति के घमंड को बहा देना चाह रहा था।

"..गांम मैं इनकी सुणों... इनकी चाकरी करो... और मिहनत करकै नौकरी मैं आ जाओ तो यहां बी इनकी ठकुराई सहो... अपणां मां-बाप और बालकां की बीमारी पै भी छुट्टी ना मिलै अर इनके कुत्ता बिल्ली की टट्टी का रंग और वजन भी

बताओ... लिखकै राखो... इनके बालकां का कपड़ा धोओ... प्रेस करो... जूत्ता पालिस करो... कहां की आजाद्दी...? साला वो ही सिस्टम है सबका सब... गाम मैं ये सिर पै तो फौज की नौकरी मैं भी वो ही हिसाब... साला... मादरजात..!"

और केवल बहादुर ही नहीं पूरी छावनी की बैरकों के पिछवाड़े घने अंधेरे में इसी प्रकार धाराप्रवाह गालियां मूती जा रही थीं। छावनी का विस्तार हो रहा था। छावनी देश होती जा रही थी। देश छावनी होता जा रहा था।

इधर बहादुर के गर्वित रोबीले होते पिता में भी बदलाव आ रहा था। पहले जहां किसी भी ऊंच जात को देख कर वह ठिठक कर, "खम्मा घणीं ठाकुर सां" कहता हुआ धनुष सा मुड़ जाया करता था "जय हो भंवर सा!" कहता हुआ चलती साइकिल से कूद ही जाया करता था, चोटिल भी हो जाता था। मगर हवलदार बनने के बाद बहादुर ने घर पक्का करवा दिया था लूना ले कर दे दी थी, तब से उनकी रीढ़ भी सीधी होकर तनने लगी थी।

ठुड्डी अब ठंडी माथा हुई जा रही थी। चलती लूना से कोई आस दिख जाता या एकदम सामने आ जाता तो लूना को धीमा कर रोक लेत, उसका टायर चेक करने लगता। लूना की ओट से ही बोलता–

"खम्मा घणी भंवर सा!"

और बिना पूछे बता भी देता। "छोरा नै दिलवा दी यो लूणां पर आजकाल तंग बहोत कर री है..." और झूठे होंठों मुस्कुरा देता।

इस पर कभी–कभी उसकी घरवाली कहती–

"थैं आजकाल इन ठाकर बाम्हणां को लिहाज नईं करता... सुरसतिया बता री थी कि थम खम्मा घणी करो तो तण कै आकड़ मैं करो... ठकुरानी उसतै बता री थी..."

"...बहादर की मां जमाना बदल रहयो है... ईब वो बखत ना है, सिरकार है, कानून है, वोट है... ईब तो सुणवाई है म्हारी भी..."

घरवाली उनको लगातार समझाती रहती मगर वह बात काटते रहते–

"...बहोत बदलाव आयो है... ईब तू ही देख ले के बणा–बणी मंदिर का चबूतरां पै दरवज्जा पै ठाक्कर भगवान की शरण मैं पहली रात बितावै हैं..."

"हां! यो तो रिवाज है म्हारा... पीढ़ियां तै चली आवै है यो रसम तो..."

"हां! बूढ़ा थोड़ा सही स्थान देखकर अपनी बात भी मिला देता।

"हां तो यो जो ठाक्कर भगवान है ना...? वो पहलां ये मूंछां–पग्गड़–धारी ठाकुर राजपूत कुंवर सा ही होया करै था... बणी नै पहली रात वहीं, उनका साथ बिताणी होवै थी .... और रात बिताण को मतलब तो पतो ही होयेगो थान्नैं...?

"ओं?"

"ओं ना! हों" बहादुर का पिता बताता।

"..पुराणां पुरखा का बखत मैं कौण नीच शूदरां नै नया कपड़ा पहरण देवै था...? कौण ताजा सुच्चो खाणों खावण देवै थो?

"फेर मतलब..?

"मतलब यो बावलियां के पहरण खात्तर ऊंच जात वालां की फटी पुराणीं उतरन और खाण खात्तर उनका बासा जूठा... ईब ठाक्कर बाम्हण किस तरियां नयो पहरण खाण अर बरतण देवै था...? तो फेर बनी किस तरियां अणछुई लेवण देंगा? तो पहली रात ठाकुर बामण बरत लिया करैं था। फिर म्हानैं उनकी उतरण जूठण मिलै करै थी..."

"ओं अच्छो..."

"हां इसी मारे तो जमाना बदला कानून बणा तो पर रीत ना टूटी... आज भी पहली रात बना–बनी पहलड़ी रात ठाक्कर... छत्तरधारी कुंवर सां भंवर सा ना मंदिर का ठाकुर मंदिर का चबूतरा पै सोवै..."

बहादुर की मां को अब समझ आया कि शादी वाली रात वह लोग मंदिर के अहाते में रात भर दरी पर क्यों रहे। सारे कुटुंब जन भी वहीं रहे। वह हैरान थी।

बूढ़ा बोला–

"इसी मारी सहज सहज ये रीत रिवाज खत्म हो जावैं तो ठीक... ईब म्हारी बणीं बस मंदिर मैं धोक मारण ज्यावै करेगी... अर मैं भी बस नाम चारा की खम्मा घणीं करूं हूं... सहज–सहज सब छोड़ देवेंगा...

यूं ही दिन खुशी खुशी बीत रहे थे, एक अच्छे भविष्य की उम्मीद में बहादुर ने घर भर की रंगत बदल दी

थी। उसके कुनबे के लड़कों में भी आत्मविश्वास का संचार हो रहा था। पिता भी नई नई उमंग से भरते जा रहे थे। कोयलिया और मधुर और मीठी और सुहानी होती जा रही थी। निखर रही थी संवर रही थी। उसके रूप सौंदर्य में दिनों दिन समृद्धि होती जा रही थी। घर पड़ोस कोयलिया को बहुत मान से निहार रहा था। कोयलिया की बेटी उसी के जैसी चहकती महकती घर गली के कच्चे पक्के में किलकारियां गुंजा रही थी। मां बेटी जैसे रेगिस्तान में मीठे पानी की झील और बाग बगीचे ले आई हों।

लेकिन.... लेकिन जीवन की तो अपनी ही चाल है, जैसे जीवन की अपनी गति है। तब फौज में भी वीरता है वीरगति है। बहादुर कहां अछूता रहता। जीवन की चाल और गति से बहादुर वीरगति को प्राप्त हुआ। मीडिया देश समाज के लिये गर्व-गौरव उत्सर्ग भरी खबर, मगर बहादुर का परिवार अर्श से फर्श पर आ गया। शानदार स्वादिष्ट पकवानों भरी थाली में गर्म जलती रेत का बवंडर आन गिरा। कोयलिया का तो जीवन उजड़ गया। मां बाप का मान सम्मान भी मुट्ठी से रेत की तरह फिसल गया।

"अमराराम का लड़का बहादुर शहीद हुआ"

खबर से गांव भर ओत-प्रोत हो गया। खूब रोने कल्पने के बाद दो ही दिन में बहादुर सामान समेत घर पहुंचा। पैरों पर नहीं कंधों पर। चमचमाती महंगी लकड़ी के बने ताबूत को तिरंगे से कवर किया हुआ था। रोते बिलखते मां-बाप। बेसुध बेहोश बावली सी कोयलिया। कल तक जो उमंगता विकसता प्रफुल्लित उल्लास भरा जीवन था आज दीन हीन भिखारिन सी जैसे कूड़े कचरे के ढेर पर पड़ी मृत्यु की याचना कर रही हो। घर आंगन लोगों से भरा हुआ था।

शाम तक बहादुर का अंतिम संस्कार कर दिया गया। फौज से आठ दस फौजी आए जो फौज के ट्रक में सामान लाए थे। घर परिवार के लोग कुछ रिश्तेदार जात बिरादरी और कुछ गांव वाले। "शहीद बहादुर अमर रहे! जय हो आदि के नारे लगे। आठ दिन की तेरहवीं कर दी गई। "आजकाल कौण तेरहां सत्तरां दिन दरी बिछा कै बैठै हैं...? बहादुर का लुटा-पिटा सा पिता अपने दूसरे बेटों और भाईयों को समझा रहा था।

"..सबका अपणां-अपणां काम धंधा हैं... इतणा टैम बखत कहां रह गया किसी धौरै!"

"ठीक कहवै भाई ईबकै टैलीफोन करो थो के बापू इस बार आयो तो या लूणां को इंजण बंधवाऊंगो... के पतो थो के अपणों दाणों पाणीं ही उठ जावैगो..!"

कहकर बूढ़ा फफक कर रो पड़ा। कोयलिया बार-बार बेहोश हो जाती थी। इसी जज्बाती माहौल में तय किया गया।

"भाई बिरादरी ध्यान तै सुणों!" तेरहवीं पर बिरादरी के एक बूढ़े ने सबको संबोधित करते हुए कहा-

"बहादुर नै जो तक देस समाज बिरादरी खात्तर जान दी तो हमनै भी उसको कर्ज चुकाणों चहिए.."

सब हैरानी से देख सुन रहे थे-

"तो क्यूं ना यो करैं के शहीद बहादर की एक मूरत तो इस गांम मैं लगा देवैं...!"

सुनकर पिता की आंखें भर आई। मां और पत्नी की हालत तो एक सी ही थी। आपस में थोड़ा-थोड़ा पैसा इकट्ठा हुआ और कुछ दिनों बाद जयपुर से पत्थर की ढाई तीन एक फुट की मूर्ति आ गई। अब लगाने का संकट खड़ा हुआ। रजवाड़ा पूरा नाराज था। मगर नाराजगी एक सीमा तक और वह सीमा यह कि मूर्ति बहादुर के अपने प्लाट में लगाई गई। उस दिन फौज से केवल चार ही फौजी आए और उस मोहल्ले से भी कुल मिलाकर चालीस-पचास एक लोग जुटे। पांच एक फुट का चबूतरा और उस पर ढाई-तीन फुट की मूर्ति, पत्थर की मगर रंग भरी हुई। वर्दी पर हरा चेहरे पर क्रीम सा रंग। ढाई फुट का धड़।

कोयलिया नित्य प्रति बेटी के साथ रोज उसकी सफाई करके जाती। थोड़े ही दिनों में वहां एक बगीचे ने आकार ले लिया। बीस-तीस फुट का दायरा। पौधे पेड़ होने की उम्मीद में लगाए गए थे। मगर मूर्ति रजवाड़े के कलेजे की फांस बनी हुई थी। बहादुर के न रहने से परिवार के ठाठ नहीं रहे। मगर अब मूर्ति ?

"...ठाकुर सां जो माणस जूण मैं भी ना था उनकी मूर्ति लगेगी अब

..?

"रै परस्या राम सब इस निकम्मीं सिरकार की मेहरबानी है! जी मैं तो बहोत कुछ आवै पर के करैं ईबकै इस सिरकार में साझा ना है म्हारो..."

"पर हुकुम सुणीं है कि सिरकार पलटण वाली है..."

"बस परस्या राम जै सिरकार पलट गई नैं तो तू देखिये म्हारा वे ही राजा महाराजा वाला ठाठ-ठसक!"

"और हुजूर मालिक इस सेवक नैं मत भूलियो...!"

"बस परस्या तू तेल देख और तेल की धार देख!

और ऐसा बहुत जल्दी हो भी गया। वक्त बदला सरकार बदली। या कहें कि सरकार बदली और लोगों का वक्त बदल गया। ऊपर से नीचे तक सब बदल गया। बदल गई शब्दों की परिभाषा। देश समाज धर्म व देशभक्ति सब शब्दों की परिभाषा सत्ता और सत्ता समर्थित भीड़ करने लगी।

अब रजवाड़ों को जीवन दान देने वाली सरकार आ गई। जो धर्म के नाम पर बनी थी जो भविष्य के भारत का निर्माण अतीत का नाश करके कर रही थी। इतिहास और पुरातत्व की तमाम मान्यताओं, खोजों को पलट देने का दौर था।

"किसी की जेब में हमारा धन है कहकर उस को खंगाला जा सकता है। उसे नोचा जा सकता है। इस कुतर्क को सत्ता का समर्थन मिलते ही भीड़ को सपने आने लगे"

ढूंह टीलों के नीचे प्राचीन विलुप्त नदियां खोजने के लिए अरबों रुपए सरकार ने दे दिये। और अन्य धर्मों की इमारतों के नीचे मंदिर नजर आने लगे। एक्स-रे, अल्ट्रासाउंड से भी सटीक स्पष्ट रिपोर्ट आने लगी। किसी को सपना आया था किसी को गुरुओं ने पुरखों ने दर्शन देकर बताया था कि फलां मजार के समाधि के नीचे फलां वाले भगवान का मंदिर दबाया गया।

ऐसे ही एक दिन भक्तों की भीड़ जोरदार नारे लगाती इन इलाकों से गुजर रही थी। इस भीड़ ने बहुत सारे भौगोलिक बिंदु तय कर रखे थे। जहां ऐतिहासिक भवनों के नीचे बहुत ही नीचे देवी-देवताओं की मूर्तियां सांस ले रही थीं। आजादी की पुकार कर रही थीं। मंदिर दबे होने की आस्था वहीं थी। पाताल भेदी दृष्टि इनको वर्तमान सत्ता से प्राप्त थी। सीधे सोनार किरणें आ रही थीं। और प्राप्त था प्रचंड बहुमत प्रदत्त अभयदान। तो भारी भरकम जत्था मरुस्थल में बवंडर उठाता हवेली और कच्चे पक्के घरों को कंपाता दलकाता हुआ जा रहा था।

मंदिर वहीं बनाएंगे ..!
ढांचा वहीं गिराएंगे ..!
अरे जो हमसे टकराएगा..!
चूर चूर हो जाएगा ..!
सौगंध राम की खाते हैं ..ठोकर में खंडहर को धूल बनाते हैं...

भीड़ का जत्था हवेलियों और पक्के मकानों की सुंदर सड़कों से हटकर अचानक कच्ची बस्तियों की तरफ मुड़ गया। गांव के दक्षिण में बसी दलित बस्तियां रेत के गुबार से ढंक गई। हड़बड़ हड़बड़ खड़बड़ खड़बड़ कर कच्ची पक्की गलियां भीड़ से भर गईं।

"ये कौण ? ये कैंयां आया ?

कोयलिया अपनी सास से बोली। पास में बेटी भी खेल रही थी। पास ही घर कुनबे के दो-चार छप्पर आंगन थे। वहीं से पानी लेकर वह बहादुर की मूर्ति को नहला और बगीची को सींच देती थी। पौधे जवान हो रहे थे। बगीची बाग हुई जा रही थी। रेत ठंडा होने लगा था। सांझ की सीलक बढ़ रही थी। कोयलिया बहादुर की मूर्ति को नहलाकर धूप बत्ती दिखा चुकी थी। सास बगल के आंगन में एक वृद्धा से बतला रही थी। बच्चे भी वहीं खेल रही थी वह छोटे-छोटे पत्थरों का ढेर लगा रही थी। कोयलिया ने इस घर की वृद्धा को काम करने से मना कर दिया था।

"ना माउसी मैं करी दूं... थम रहवण दो..." और वह झाड़ू लेकर आंगन बुहारने लगी। झाड़ू लगाते हुए कह रही थी-

"पाणी गरम कर दियो है नहा ल्यो... फेर बालां कंघी कर द्यूंगी माउसी..."

इस घर की वृद्धा जो कोयलिया की मौसी लगती थी उसे झोली भर-भर कर आशीष दे रही थी। साथ ही कोयलिया की स्थिति पर उसकी सास से बात करते हुए रह-रहकर उसकी आंखें भर आ रह थीं। सामान्य दिन की सामान्य सी क्रियाएं। परंतु वातावरण एकदम आसामान्य होता चला गया।

बाहर बवंडर सा उठा। खूब शोर और ऐसी आवाजें जैसे सांझ ढले पशुओं का झुंड दिन भर बेचौन होकर घर खूंटे को लौट रहे थे। तेज आवाजें में थबड़-थबड़... दबड़-दबड़ और नारे

जय हो!

जय हो !

एक आध बार पंक्तियां भी गूंज जातीं.. बनाएंगे... इत्यादि

कोयलिया की बेटी बहादुर की मूर्ति के पास खेल रही थी। यहां जो क्यारियां बनी हुई थीं उनके रेत में से गोल-गोल पत्थर जो नींबू नारंगी जैसै आकार के थे झोली में भरकर-भरकर अंदर आंगन के नीम की जड़ों में जमा कर रही थी। पत्थर ले जाती बच्ची जोर जोर से चिल्लाई

"आई..." साथ ही तेज आवाज नारों जयकारों की भी सुनाई दी। कोयलिया उसकी सास और घर की वृद्धा तथा अन्य बच्चे दौड़कर आए आकर दरवाजे पर ठिठक गए। देखा भीड़ का एक रेला। पचास साठ की संख्या।

सभी ने रंग-बिरंगे कुर्ते पहन रखे थे। भगवा रंग इनमें सबसे ज्यादा था। बाकी मिलते-जुलते गहरे हल्के रंग। सबने नीचे पजामा जींस की पैंट पहन रखे थे। और ओम लिखा त्रिशूल छपा पटका माथे पर बंधा था। किसी ने पगड़ी बांध रखी थी किसी ने गमछा लपेट रखा था। सबके हाथों में ओम लिखे झंडे थे। इस परिवार के साथ अन्य परिवार भी अपने अपने दरवाजे पर आकर ठिठक गए। अब तक तेज भोंकते कुत्ते पीछे हटने लगे थे। कोई किसी गली में घुस लिया। कोई दूर रेत के टीले-टिबे की तरफ दौड़ गया और वहीं से भौंक रहा था। सारा जत्था आगे आया। तेज नारे लगने लगे।

"सौगंध राम की खाते हैं...!

सबने मूर्ति के चबूतरे को चारों ओर से घेर लिया। बगीची के सुंदर फूल पौधे उनके पैरों तले कुचले जा रहे थे... मसले जा रहे थे। यंत्र चालित ढंग से सबके हाथों में हरकत हुई। जैसे सेना की परेड में कुशल संचालन होता है। एक साथ हाथ और उसी गति से पैर उठते हैं ठीक एकदम वैसे ही झंडे बगल में दबाकर कुर्ते की जेब में हाथ गया तो किलो भर का हथोड़ा बरामद हुआ। फिर वैसी ही त्वरा से दूसरी जेब से बिलहांद भर का लकड़ी का बिट्टा निकाला हथौड़े में डाला जिसको जहां जो भी ईट-पत्थर मिला, आसपास के घरों की पथरीली दीवारें, गली में पड़े पत्थर उनपर मारकर लकड़ी के बिट्टे को फिट कर दिया। भीड़ ने सबसे आगे लीडर की तरफ देखा। आग भरी आंखों से वाणी में ओज भरकर लीडर चीखा-

"भारत माता की ..."

"जय !!" सब ने कहा आसपास के लोग सहम गए।

फिर कहा-"जय कारो वीर बजरंगी" "हर हर महादेव!!"

कहता हुआ हथोड़ाधारी जत्था बहादुर की मूर्ति व चबूतरे पर टूट पड़ा। तरह-तरह की आवाजें जैसे भारी कारखाना चल पड़ा हो। बहादुर की मां व कोयलिया रो उठीं। बढ़कर रोकना चाहा तो शक्तिशाली हथेलियों व कंधों कोहनियों ने उनको परे धकेल दिया। रोती बिलखती दोनों वहीं पर फिसलती-धिसलती पसर गईं। आसपास के लोग भी जब तक समझ पाते तब तक तो वहां कुछ ही क्षणों में केवल पत्थरों का मलबा फैला हुआ था। पल भर की देरी में वहां ऐसा हाल हो गया जैसे किसी कॉलोनी में प्रशासन की जेसीबी मशीनों ने अवैध निर्माणों को मटियामेट कर दिया हो। अब वहां मलबे का ढूंह भर रह गया था।

"हर हर महादेव !

"भारत माता की जय..!"

के नारे गूंज रहे थे धूल का गुबार मलबे के ढेर पर उड़ रहा था। अब वे सब नाक की सीध में जो मस्जिद नजर आ रही थी उसकी दिशा में बढ़ गए। नए नारे के साथ-

"अयोध्या तो झाकी है

काशी-मथुरा बाकी है"

शोर दूर होता चला गया जैसे तूफान गुजर गया हो। सब शांत। कोयलिया की सिसकियां गूंज रही थीं और उसकी बेटी झोली में मूर्ति के टुकड़े भरकर भीतर की ओर जा रही थी। कोयलिया और उसकी सास को अन्य स्त्रियां संभाल रही थी। लोगों की आंखें नम थीं। टूटी मूर्ति की नाक को छू देखकर कोयलिया की बेटी हैरान थी। टूटी मूर्ति के टुकड़ों को डरी सहमी सी देख रही थी। वह पत्थर की नाक को अपनी नाक से छुआकर थोड़ा दूर हटाकर टुकुर-टुकुर निहार रही थी।

कथा-कहानी मंच

काश! तुम समझ पाते

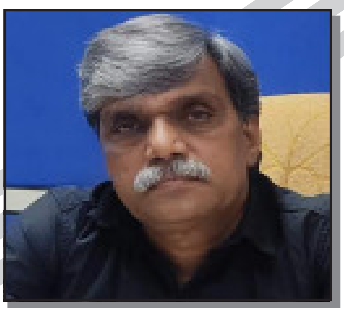

डॉ. पूरन सिंह

जन्म:10 जुलाई, 1964,
मैनपुरी. उत्तर प्रदेश

शिक्षाः एम.ए.(अंग्रेजी-हिन्दी)
पी.एच.डी

पुरस्कार/सम्मान : विभिन्न प्रतिष्ठित साहित्यिक संस्थाओं द्वारा अनेक सम्मान और पुरस्कार तथा हिंदी अकादमी दिल्ली द्वारा कहानी 'नरेशा की अम्मा उर्फ भजोरिया' पर श्रीराम सेंटर दिल्ली में नाट्य मंचन

कृतियांः : 9 कहानी संग्रह तथा 11 लघुकथा संग्रह, 3 कविता संग्रह तथा विशेषांकों का संपादन।

संपर्क : 240 एवं 935डी
बाबा फरीदपुरी, वेस्ट पटेल नगर,
नई दिल्ली-110008
फोन : 9868846388

गांव से बड़े भैया का फोन आया कि धनकुनि चाची नहीं रहीं।

धनकुनि चाची अम्मा की सहेली थीं। भैया-बहनियां के धरातल पर अम्मा का उनसे बहुत लगाव था और चाची का अम्मा से। धनकुनि चाची धनकुनि थी अर्थात् वह महिला जो गर्भवती स्त्रियों के बच्चे पैदा कराती हो। अम्मा जब जीवित थी तब बताया था कि मुझे धनकुनि चाची ने ही पैदा करवाया था इसलिए वे चाची कम, अम्मा ज्यादा थीं मेरे लिए। जब मेरी शादी होकर आयी थी तो मेरी पत्नी ने अन्य औरतों के साथ-साथ धनकुनि चाची के भी पैर छुए तो अम्मा की सहेलियों ने आपत्ति की थी, 'ये जिजी, बहू को बताओ नाय थो का, जा धनकुनियां के पैर छू लए बहू ने।' अम्मा ने सिर्फ इतना ही कहा था, 'वे हमारी सहेली हैं जायकी वजह से बहू ने पैर छुए।' अम्मा की सहेलियां संतुष्ट नहीं हुई थीं। बात आई-गई हो गई थी।

दरअसल, धानुकों और जाटवों में जाटव श्रेष्ठ और ऊंचे माने जाते हैं। हिंदू धर्म व्यवस्था तो यही कहती है जहां गोत्र, वर्ण के आधार पर लोग श्रेष्ठ होते हैं वहां जाति तो बहुत महत्वपूर्ण होती है। वैसे जितना मैं जान पाया हूं वर्ण व्यवस्था के आधार पर, तो वह यह है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के अलावा जितनी जातियां है वे सब शूद्र हैं उनमें ऊंच नीच का क्या मतलब। अगर मेरे जानने भर से काम चल जाए, ऐसा कैसे हो सकता है। जाटवों में भी चमार, दोहरे, कुरील न जाने कितनी बीमारियां है वैसे ही अन्य जातियों में भी हैं। ये सब इसलिए कि किसी भी तरह से लोग एक न हो पाएं। और इन सब का सरगना है ब्राह्मण। ब्राह्मण समाज में कभी भी लोगों में एकता नहीं चाहता। सीधा अर्थ उसका यह है कि अगर लोग एक हो जाएंगे तो उसे कौन पूछेगा और उसे अपनी पूछ की बड़ी चिंता है। वह खाता ही इसी का है। खैर...! तो धनकुनि चाची नहीं रहीं और भावनात्मक आधार पर मुझे चाची के अंतिम दर्शन करने जाना होगा।

मैंने दो दिन की छुट्टी ली और चल दिया था। पहले चाची के घर

गया, अपने घर बाद में। चाची के दर्शन किए। आंखों में नमी जायज थी। मां भी नहीं थीं, आज मां की सहेली भी नहीं रही अर्थात् मां धीरे-धीरे कम होती चली जा रही थी।

चाची, अर्थात् धनकुनि चाची का जब अंतिम संस्कार हो गया तो मैं दोपहर को मार्केट घूमने चला गया था। सर्दियों के दिन थे। मैं बाजार में था। ये वही जगह थी जहां एक दुकान के बाद दूसरी दुकान पर जाने के लिए समय लगता था। एक-एक दुकानदार को लोग जानते थे और आज... आज वहीं, मल्टीस्टोरीज शॉपिंग काम्पलैक्स थे। कोई किसी को नहीं जानता था अगर संबंध था भी तो केवल अर्थ (धन) के आधार पर था।

मैं देख रहा था कि कुछ-कुछ जाना पहचाना-सा एक आदमी मुझे दिखाई दिया। उसने धोती पहन रखी थी और उसके ऊपर लंबा-सा कुर्ता। गले में रुद्राक्ष की तीन-चार मालाएं। लंबे से बाल। हाथों में लाल-पीले अनगिनत धागे। माथे पर नाक को छूता तिलक। बहुत दिमाग दौड़ाता रहा फिर थोड़ा-सा क्लिक हुआ। अच्छा पीताम्बर है। हिम्मत करके उसे बुलाया, 'सुनो!'

'जी', वह मेरे पास आया।

'तुम पीताम्बर हो?'

'हां और तुम?'

'पहचानो,' मैं बोला और खुश भी हुआ कि कम से कम पहचानने में मुझसे चूक तो न हुई। वह जोर देता रहा फिर बोला, 'अच्छा! तो तुम हो।'

'कौन', मैं जानबूझकर बन रहा था।

'मोहन', वह बोला।

'हां' मैं संतुष्ट हुआ कि उसने मुझे पहचान तो लिया।

बस फिर क्या था।

'साले इतनी देर से सवाल किए जा रहा है। सीधे नहीं बोला जाता कि तू मोहन है।' फिर विनम्र होते हुए बोला था, 'हां, ठीक है भाई तू काहे को पहचानेगा, अफसर हो गया है। मेरे जैसे गरीब निर्धन ब्राह्मण को कैसे पहचानेगा।'

अब मेरी बारी थी और मैं चूकने वाला था भी नहीं, 'अरे चूतिए, बता जरा तुझे रोका किसने था। तू तो उल्लू की तरह मुंह ऊपर किए जा रहा था। मैंने ही तुझे पहचाना साले और बातें करता है।'

उसने कुछ नहीं कहा। बस देखता रहा फिर गले लग गया। हम दोनों की पलकें भीग गई थीं। एक पल के लिए हम दोनों गले लगे रहे। पीताम्बर ब्राह्मण होने के साथ-साथ अच्छा इंसान भी था। सच्चा और निश्छल। मित्र और हमदर्द।

दरअसल, पीताम्बर और मैं कच्चे एक से साथ-साथ पढ़े थे। पीताम्बर को छोटा 'अ' बड़ा 'आ' लिखना भी नहीं आता था। वह जब पट्टी पर छोटा 'अ' बड़ा 'आ' लिखकर मास्टर साहब को दिखाने जाता तो खूब कूटा जाता। वह पिटता तो मुझे दुख होता। तब वह ब्राह्मन नहीं होता था वह सिर्फ मेरा दोस्त होता। हम लोग इस जाति के समीकरण की परिधि से दूर होते थे। मैंने उसे पूरी इमला अर्थात 'अ' से लेकर 'ज्ञ' तक लिखना सिखाया था उसका हाथ पकड़कर। वह इतना निश्छल था कि मेरी पट्टी को खूब साफ कर देता था। अच्छी-अच्छी चीजें लाकर खिलाता। हम दोनों आपस में जीभ भी लड़ाते थे। और पेशाब करने जाते तो पेशाब की धार को भी लड़ाते। कई बार जानबूझकर एक-दूसरे की ओर धार कर देते। और यही सब शैतानियां करते-करते हम छठवीं कक्षा में पहुंच गए थे। अब हम दोनों को अपनी अपनी जाति का समीकरण समझ में आने लगा था लेकिन आने ही लगा था फर्क कुछ नहीं पड़ रहा था।

पीताम्बर की मैं पढाई में कितनी मदद करता। कितना उसको नकल टिपाता। आखिरकार मैं हार ही गया। हुआ ये था कि मैंने उसकी अंग्रेजी के पेपर में मदद की और मैं पकड़ा गया। मैं पकड़ा नहीं जाता। पीताम्बर के गांव के एक लड़के ने मास्टर साहब से हम दोनों की चुगली खा ली, 'सा'ब मोहन ही पीताम्बर को नकल कराता है। पीताम्बर को कुछ नहीं आता। गधा है।'

सालाना के पेपर थे। तब दो बार ही पेपर होते थे। छःमाही और सालाना। अंग्रेजी का पेपर था। मैंने अपना तो लिख लिया था। पीताम्बर का ए फार एप्पल और बी फोर बेट लिख रहा था। मास्टर साहब ने मुझे रंगे हाथों पकड़ लिया। पहले तो खूब उचेला फिर मुझसे पूछा था, 'बोलो, क्या चाहते हो।'

'क्या साहब', मैं हाथ बांधे खड़ा था।

'फेल होना या पास होना।' मास्टर साहब न्यायाधीश बने हुए थे।

'पास होना', मैं बोला था।

'तुम या पीताम्बर।' मास्टर साहब ने शर्त रख दी थी फिर बोले थे, 'देखो तुम पीताम्बर की कापी लिख रहे थे। उसे नकल कराने के कारण मैं तुम्हें फेल कर दूंगा। पीताम्बर को पास कर दूंगा। अब तुम देख लो, क्या चाहते हो।'

'साहब हम दोनों को पास कर दो। पीताम्बर मेरा दोस्त है। हम उसके बिना अकेले रह जाएंगे। साब।' और मैं मास्टर साहब के पैर छूकर रोने लगा था।

पीताम्बर पहले से ही रो रहा था।

'ये नहीं होगा। मैं तुम्हें फेल कर देता हूं। पीताम्बर को पास कर देता हूं। काम खत्म।' वे उठने लगे थे कि. ..कि...पीताम्बर बोला था, 'साब मुझे फेल कर दो। मुझे कुछ आता ही नहीं। मेरे दोस्त को पास कर दो। वह तो मेरी मदद कर रहा था। मैं पढ़ने में कमजोर न होता तो आज...।' और पीताम्बर बिलख-बिलखकर रोने लगा था।

मास्टर साहब चले गए थे। लेकिन मास्टर साहब के चले जाने से क्या होना था। मुझे पहली बार अपने मित्र पीताम्बर पर गुमान हुआ था। 'तुमने ऐसा क्यों कहा। तुम्हें यहां तक मैं कैसे लाया। तुमने सब गू का लीपन कर दिया। अब तुम कैसे आगे बढ़ोगे। तुम्हें कौन नकल कराया करेगा। देखना तुम छठवीं से आगे जा ही नहीं पाओगे। जाओ यार।' कहकर मैंने उसे अपने से दूर करने की कोशिश की थी। वह दूर नहीं हुआ था।

'मेरा क्या है। मैं तो पढ़ने में गोबर हूं। तुम्हारी साल चली जाती। मास्टर साब मानते नहीं। तुमने मेरे साथ कच्चे एक से लेकर आज तक किया, उसका क्या। भगवान जी मुझे कभी माफ नहीं करते। विद्यारानी का पाप लगता सो अलग।' हम दोनों एक-दूसरे से मिलकर खूब रोते रहे थे। रोने से तकदीरें नहीं बदलती। पीताम्बर की भी नहीं बदली थी। पीताम्बर छठवीं में फेल हो गया था और ऐसा फेल हुआ कि बस...।

मैं छठवीं से सातवीं, आठवीं, ग्यारहवीं, इण्टर, बी.ए., एम.ए. करके नौकरी पर आ गया था।

पीताम्बर ने पढ़ाई छोड़ दी थी।

वही पीताम्बर आज मेरे गले लगकर सिसक रहा था। सैलाब तो दोनों तरफ ही था। कुछ देर बाद हम दोनों हटे। हटे क्या पीछे से गाड़ी वाले ने पोंपों-पोंपों शुरू कर दी थी।

आंखें पोंछी हम दोनों ने।

'अच्छा बता कैसा है?' मैंने ही शुरुआत की।

'खूब मस्त।'

'क्या करता है। कैसे गुजर-बसर होती है।' मेरे मन में था कि पढ़ तो सका ही न था। परेशानी में होगा।

'पहले तू बता,' पूछा था उसने, फिर अपने आप ही बोला था, 'रामसनेही बता रहा था बहुत बड़ा साब बन गया है। सुना है गाड़ी लेने आती है ऑफिस से।'

'और क्या-क्या सुना है।' अब हम एक बंद दुकान के सामने खड़े थे।

'भौजाई भी प्रन्सिपल है।'

'और बता।' मैंने पूछा था।

'गांडू! मेरी याद तो आती नहीं होगी। कोई कह रहा था ब्राह्मणों से बहुत सड़ता है। उल्टा-सीधा लिखता रहता है ब्राह्मणों के बारे में।' फिर रुक कर बोला था, 'साली ये जाति है ही ऐसी।'

मैंने पूछा था 'कैसी'

'किसी की सगी नहीं।' कहकर मन में छिपी पीड़ा हाहाकार करने लगी थी उसके। शायद वह भूला नहीं था कि उसकी और मेरी शिकायत करने वाला उसके गांव का उसका साथी ब्राह्मण ही तो था।

'नहीं! ऐसा नहीं सोचते। ऐसा होता तो तुझे मैं आज तक क्यों नहीं भूल पाया।' मैं बोला था।

'गांडूपंती मत दे। भुला पाया। साले, याद ही कब किया तूने। मैं ही लोगों से पूछता रहता था तेरे बारे में। तूने पूछा किसी से। बातें मत बना ज्यादा।' उसके ऐसा कहने पर मैंने उसको गाल पकड़कर खींचते हुए पूछा था, 'गुस्सा दिखा रहा है।' वह छोटे पर ऐसे ही किया करता था, जब मजा लेने के लिए, मैं उसकी पट्टी पर नहीं लिखता था।

वह मुस्कुराया था।

मुझे अच्छा लगा।

'अच्छा अब तो बता कैसा है... भाभी कैसी है... बच्चे कितने हैं... घर परिवार का भरण-पोषण कैसे चलता है।' मैं चिंतित था उसकी ओर से।

'तुझे भरण-पोषण की बड़ी चिंता है... तो सुन।' पीताम्बर ने बताना शुरू किया था, 'छठी में तीन बार फेल होने के बाद मैंने पढ़ाई छोड़ दी।' अभी उसने बताना शुरू ही किया था कि मैंने बीच में टोका, 'हां! तूने पढ़ाई छोड़ तो दी थी।' उसने मुझे

घूरा, फिर बोला था, 'अब तू ही बता ले... या फिर मुझे बोलने दे।' मैं चुप हो गया, माने सहम गया था। फिर उसने आगे बताना शुरू किया था, 'तूने वो मंदिर तो देखा ही था जहां हम लोग कई बार चले जाते थे।' मैं क्या बोलता, मुझे तो उसने चुप रहने को कहा था। 'उसी मंदिर में पिताजी, बड़े पुजारी के साथ पूजा-पाठ करते थे। मंदिर के साथ दस-बारह बीघा जमीन थी और बड़ी वाली तलैया भी। बड़े पुजारी का कोई आगे-पीछे नहीं था। वे कहां से आए थे, कोई नहीं जानता। पुजारी जी, विनम्र और अच्छे थे। मेरे पिताजी ने एक दिन मुझसे कहा, 'पीता, तू एक काम कर। पढ़ाई तो तेरी हो चुकी। बन गया तू कलक्टर साहब। अब एक काम कर, मेरे साथ मंदिर चला कर। मेरा शरीर शिथिल होने को आया और बड़े पुजारी का कोई भरोसा नहीं। कब भगवान के घर चल दें। बेटा, मंदिर का काम सीख ले।' मुझे भी लगा पिताजी ठीक ही कह रहे हैं। पढ़ लिया जो पढ़ने लायक था। मेरे साथ के सभी लड़के बड़ी-बड़ी क्लास में आ गए थे। तेरा साथ भी नहीं था। तू शहर चला गया था। मैंने पिता जी के आगे समर्पण कर दिया।

मैं मंदिर जाने लगा। रोज सुबह नहा-धोकर मंदिर जाता। मंदिर की सफाई-सुताई करता। मूर्तियों को साफ करता। गंगाजल से नहलाता। उनकी मालाएं बदलता, धूप अगरबत्ती करता और अंत में बड़े पुजारी जी की सेवा करता। वे मुझे आशीर्वाद देते। सिखाते और मेरी सेवा सुश्रुषा से खुश होकर मुझे बेटा भी कहते। वे मेरे पिताजी से हमेशा यही कहते, 'पीताम्बर ही मेरा उत्तराधिकारी बनेगा।' मैं पढ़ ही तो नहीं पाया था। दुनियादारी अब समझ में आने लगी था मेरे। मैं पूरी ईमानदारी और निस्वार्थ भाव से सीखने लगा और... और तभी एक दिन बड़े पुजारी जी चल बसे। मैं खूब रोया था। दुखी भी हुआ और न जाने उस दिन से मुझे क्यों लगने लगा था कि मैं अचानक बड़ा हो गया हूं।

पीताम्बर खड़े-खड़े ही बताए जा रहा था कि अचानक दो बुजुर्ग व्यक्ति आए जो मेरे पिता की उम्र के थे। पीतांबर रुक गया। उन्होंने पीताम्बर के पैर छुए और आशीर्वाद लिया। 'अच्छा ठीक है... ठीक है। अभी जरूरी बात कर रहा हूं। मंदिर आना तब बातें करेंगे।' कहकर उन्हें दूर करने की सोची। वे जब चलने को हुए तब भी उन्होंने उसके पैर बड़े सलीके से छुए।

'क्यों रे! ये दोनों लोग हमारे पिता के तुल्य हैं। तुम साले इनसे पैर छुवाते हो। शर्म नहीं आती।' मेरे इतना कहने पर वह मुस्कुराया, 'मंदिर चलना। इनसे ज्यादा उम्र की माताएं मेरे पैर छूकर आशीर्वाद लेती हैं।'

'और तुझे शर्म नहीं आती। डूब मरो।' मैं बिना वजह ही उखड़ रहा था।

'हो गया तेरा। तूने तो कहा था अपने बारे में बता और अब तू मुझे ही गरिया रहा है। अच्छा पूरी बात सुन ले फिर गाली देता रहियो।' वह विनम्रता से बोला तो मुझे खुद पर गुस्सा आया, 'सॉरी यार।'

'यार भी और सॉरी भी। वाह क्या बात है।' उसने चारों उंगलियों में पहने हुए हीरा मोती की अंगूठियां नचाते हुए कहा था, 'अच्छा सुन आगे।'

मैंने गर्दन हिलाई थी।

'अब पिताजी, मंदिर के बड़े पुजारी थे और मैं उनकी जगह।' उसने आगे के पृष्ठ उलटे, 'पिताजी कमजोर तो थे ही सो मैं ही सारा काम देखता था। मंदिर से लगी दस बीघा जमीन में, फल-फूल, सब्जियां और अनाज उगाने लगा था मैं। दरअसल में कहां काम करता था। ये तो भक्त लोग थे जो करते थे। हां उससे होने वाली आय का मैं अकेला मालिक था।

...मैं बेईमानी नहीं करता था। मैं उसमें से अधिकांश आय मंदिर की देखभाल, नए मंदिर बनाने, चबूतरा बनाने, मूर्तियां खरीदने, रंगरोगन करवाने, भंडारा करवाने में लगाता। लेकिन अपने लिए भी कोई कमी न छोड़ता था। खूब अच्छा खाता, खूब अच्छा पहनता। मेरे परिवार कि स्थिति बहुत अच्छी होने लगी थी। अब पिताजी घर नहीं आते वे मंदिर पर ही रहते। धीरे-धीरे मैंने तालाब भी आधुनिक तरीके का कर लिया। उसका गंदा पानी हर महीने-छह महीने में साफ करवा देता। उसी जमीन में से कुछ हिस्से में मैंने गायें पाल ली। गौशाला बन गई। आज मेरे पास तिहत्तर गायें हैं। बहुत सारे भक्त लोग उनकी देखभाल करते हैं। उनसे होने वाली आय मेरे पास आती है।

घर-परिवार खूब अच्छा चलने लगा तो पिताजी ने मेरी शादी कर दी। पत्नी भी पुजारी की बेटी है। पढ़ने में अच्छी है और होशियार भी।' पीताम्बर बताए जा रहा था कि अब मैंने हिम्मत

की थी, 'अच्छा एक बात बता।'

'पूछो।'

'तुझे ढंग से हिंदी लिखनी, पढ़नी तो आती नहीं थी। मंत्रों के उच्चारण, संस्कृत भाषा... ये सब तू कैसे कर लेता था।' मैं जिज्ञासु बन गया था।

'बड़े पंडित और पिताजी से जितना सीख पाया, सीख लिया था और वैसे भी पुजारी होने के लिए बहुत ज्यादा ज्ञान की जरूरत नहीं होती। कुछ निश्चित बातें होती हैं वे आनी चाहिए। वे मुझे आती थीं। फिर मुझे डांटते हुए बोला था, 'अच्छा ज्यादा सीबीआई का अफसर मत बन। पूरी बात सुन।' और आगे बताने लगा था।

पंडिताइन ने साथ दिया। घर परिवार और अच्छा हो गया और इसी उधेड़बुन में दो बेटे और एक बेटी का बाप भी बन गया। एक दिन ऐसा भी आया जब पिताजी भी छोड़कर चले गए। पिताजी की एक बरस भी नहीं हुई थी कि अम्मा भी छोड़कर चली गई। अब मंदिर की पूरी जिम्मेदारी मेरी और घर की जिम्मेदारी पंडिताइन की। पंडिताइन बहुत नेक और ईमानदार महिला हैं। उन्होंने मुझे ज्ञान की बातें सिखाईं। मंत्र और मंत्रों के उच्चारण, उनके अर्थ भी सिखाए। पूजा-पाठ की बेहतरीन विधि भी बताई। अब ये बात और है कि मैंने कितना सीखा। खैर काम चल निकला। बेटी की शादी कर दी। अच्छे घर में ब्याही है। खूब संपन्न है।

'अरे हां यार, मैंने तो पंडिताइन की हर बात बताई लेकिन तूने भाभी के बारे में कुछ नहीं बताया। कैसी है। अच्छा कुछ तो बता।' उसे अचानक न जाने क्या हो गया था।

'तो सुन! तेरी सुनते-सुनते तीन बार मिस्ड काल आ चुकी हैं। बार-बार एक ही बात पूछी है, कहां हो, किसके साथ हो। यार, इतनी शक्की औरत पूरे भारतवर्ष में तो पैदा नहीं हुई होगी। ऑफिस में दस बार फोन करेगी। किसके साथ हो, क्या बातें कर रहे हो। तुम्हारी पीए बदलवा लो, जेंट्स रखवा लो। किसी कार्यक्रम में जाऊंगा तो दस बार पूछेगी। किसी महिला का फोटो मेरे साथ देख लेगी तो पूछेगी, कहां तक बात पहुंची।' मेरा रोना जारी था, 'यार इतना भी कोई शक करता है क्या।'

'यार वह तो प्रिन्सिपल है। फिर भी,' पीताम्बर बोला था।

'यार पहले औरत है फिर प्रिन्सिपल,' मैं बोला।

'अच्छा पंडितानी ऐसी नहीं है। मुझे कहां तक रोकेगी। सुन तुझे मजे की बात बताता हूं। शहर की वे औरतें, लड़कियां जिनकी ओर कोई सभ्य आदमी, अगर देख ले तो वे उसकी आंखें निकलवा लें। वे लड़कियां और औरतें मेरे सामने आकर दण्डवत होती हैं। उनका ऐसा कुछ भी नहीं होता जो मुझसे छिपा रहे। दोनों हाथों से मेरे चरण स्पर्श करती हैं। मैं आशीर्वाद देता हूं। खैर! छोड़ न इन बातों को।' उसने मुझे देखा था।

'अच्छा बता, दोनों बेटे क्या कर रहे हैं।' एक युग के बाद मिले थे हम। सो सब कुछ जान लेना चाहते थे।

'बड़ा बेटा तेरे वहीं, दिल्ली के पास में ही नोएडा की किसी कंपनी, अरे भला-सा नाम बताता है, इन्फो, इन्फो करता रहता है। उसी में मैनेजर है। एमबीए किया था। पिछले आठ साल से है। एक पैसा उससे नहीं लेता मैं। पांच साल से सुन रहा हूं फ्लैट ले रहा है। आज तक तो ले नहीं पाया। एक दिन मैंने उससे कहा भी, ऐसा कर फ्लैट ले ले। सारे पैसे मैं दे दूंगा। आएगा ही कितने का। ज्यादा से ज्यादा अस्सी-नब्बे लाख का। उसने साफ मना कर दिया, 'नहीं पापा, आपकी इस पूजा-पाठ वाली कमाई से नहीं लेना। अपनी मेहनत की कमाई से लूंगा। असल बात ये है कि उसका मानना है कि मैं लोगों को धोखा देकर, अंधविश्वास से पैसा पैदा करता हूं। बहुत दुख होता है। क्या करूं जिद्दी है। मेरे पास पैसे, मान-प्रतिष्ठा की कोई कमी नहीं है लेकिन बेटा.. हार गया मैं उससे।' बताते-बताते वह दुखी होने लगा था।

मैंने उसे ढाढ़स बंधाया था और इतना ही कहा, 'तुम्हारा बेटा बहुत नेक है। उसे मेरी दुआएं भी लगे। अच्छा छोटे वाले के बारे में तो बता।'

'छोटे वाला,' उसने छोटे वाले बेटे के बारे में बताना शुरू किया था, 'वह पढ़ने में बहुत होशियार था। मैंने उसे दसवीं करने के बाद रोक दिया। वह हमेशा कहता, 'पापा कलक्टर साहब बनूंगा। मैं उसे समझाता, 'बेटा कलक्टर साहब से ज्यादा तुझे यहां मान-सम्मान मिलेगा। उससे ज्यादा तेरा जलजला होगा। कलक्टर साहब की पूरी जिंदगी नेताओं, मंत्रियों के तेल लगाने में ही निकल जाती है। मेरे साथ रहो, तुम्हें खूब ताकतवर बना दूंगा। धन-दौलत के अंबार लगे होंगे, नेता, अभिनेता और गुण्डा-बदमाश तेरे चरणों में रहेंगे और तुझे क्या

चाहिए। बेटा मेरी बात मान गया। अब मेरे साथ ही पूजा पाठ में है। मंदिर का सारा लेन-देन, वही देखता है। मंत्र, जाप भी करवाता है। शादी कर दी है उसकी। बहुत बड़े घर की बेटी है। पीएच.डी. है। कस्बे के बीचों-बीच उसकी शानदार कोठी है जिसमें दुनिया की कोई ऐसी सुविधा नहीं, जो न हो। मंदिर को भी माडर्न बना दिया है उसने। दो-तीन लड़के रखे हैं। कंप्यूटर और न जाने क्या-क्या, वाई-फाई करता रहता है। बहू भी उसी का साथ देती है। छोटेवाले के बारे में बताते-बताते वह दुखी होने लगा था, 'लेकिन बड़े बेटे की ओर से चिंता लगी रहती है। न जाने कहां से मेरे घर में जन्म ले लिया। उसे तो तेरे यहां होना चाहिए था।' फिर रुका था, 'हां उसे छोड़कर कोई दुख नहीं। सब कुछ है। धन-दौलत, मान, प्रतिष्ठा।'

'मान-प्रतिष्ठा नहीं साले, तुम और तुम्हारा छोटेवाला समाज को लूट रहे हो। और कुछ नहीं। धर्म की आड़ में माल चीर रहे हो।' मैं बोला था तो वह सीरियस हो गया था, 'अच्छा ऐसे कहोगे।'

मैं सकपका गया था। अपने ऊपर गुस्सा भी आया था। ऐसे न जाने कितने लोग होंगे जो धर्म की आड़ में जाने क्या-क्या नहीं करते हों। तो क्या मुझे अपने मित्र से, जो मुझे एक जमाने के बाद मिला था, उससे कहना चाहिए था। वह कितना निश्छल है, जो सारी बातें मुझे बताए जा रहा था। छी! मैंने उसे अपने गले से लगा लिया था। गला रुंधने लगा था। 'मैं तो ऐसे ही कह रहा था। तू तो यूं ही सीरियस हो गया। हम इतने दिनों से मिले नहीं लेकिन हमारी दोस्ती तो आज भी वैसी ही है।'

'सही बताऊं। तुम ही नहीं, अधिकांश लोग ऐसा ही कहते हैं। लेकिन मैं उनसे एक बात पूछता हूँ। क्या मैं उनसे कहने जाता हूं कि आओ, मंदिर में आओ। भगवान के चरणों में धन-सम्पदा चढ़ाओ। मेरे चरण धो-धोकर पियो। मुझे घर बुलाओ। जिमाओ, कपडे-लत्ते, दान-दक्षिणा दो। सही बताऊं, मोहन, लोग डरे हुए हैं और वही डर उन्हें मंदिर खींच लाता है।' फिर बिल्कुल मेरे मुंह के सामने अपना मुहं करके बोला था, 'तेरे मोहल्लेवाले, अरे! क्या नाम है उसका, आंबेडकर नगर...। हां! आंबेडकर नगर, सबसे ज्यादा वहीं के लोग आते हैं यहां। घर में खाने को अन्न न हो लेकिन यहां चढ़ाने आ जाएंगे। मुझे दुख भी होता है लेकिन क्या करूं। मैं अपने पेट पर लात तो नहीं मार सकता। इतना ही नहीं... तुम्हारे मोहल्ले के लोग, जो बहुत पढ़-लिखकर बड़े-बड़े अफसर बन गए हैं, वे तो जब भी अपने घर आते हैं तो अपनी पत्नी, अम्मा, पिता, भाई-बहिनों, रिश्तेदारों के साथ मंदिर में हजारों रुपये के, भगवान के गहने चढ़ा जाते हैं... कोई भंडारा करवाता है। कोई कुछ तो कोई कुछ। तुम्हारे समाज के लोग आंबेडकर-आंबेडकर तो करते रहते हैं लेकिन अपना सुख खोजने आज भी मंदिरों में ही जाते हैं और विशेष रूप से वे जो ज्यादा आंबेडकर-आंबेडकर करते हैं वे तो जरूर ही आते हैं।' फिर थोड़ा-सा गुस्सा हुआ था मुझ पर, 'मुझे पता चला था, तुम्हारे ही मोहल्ले का कोई लड़का बता रहा था। तुम ब्राह्मणों, मंदिरों, सवर्णों को पानी पी-पीकर कोसते हो... कोसते रहो। मैं रोकूंगा नहीं। लेकिन बता दूँ, तुम्हारे ऐसा करने से...लिखने से कुछ नहीं उखड़ने वाला... तुम मेरे दोस्त हो, बचपन के। तुमसे झूठ नहीं बोलूँगा। तुम्हारा समाज, जो तुम्हारे आंबेडकर का नहीं हुआ। तुम्हारा लिखा हुआ उसे क्या रास्ता दिखाएगा... सच कहूँ, हम ब्राह्मण जरूर हैं लेकिन तुम्हारे आंबेडकर को मैं शीष झुकाता हूं... नमन करता हूँ लेकिन उन्हें कोई ब्राह्मण या सवर्ण स्वीकार करे, तो उससे बड़ा मूर्ख, इस दुनिया में तो होगा नहीं। तुम्हारा समाज... तुम कभी ईमानदार तो बनो, उस महापुरुष के प्रति। ...सच तो यह है कि तुम... तुम्हारा लेखन... तुम्हारा समाज उसके प्रति ईमानदार हो ही नहीं। मुझे ढोंगी कहते हो... असली ढोंगी तो तुम्हारा समाज है।' फिर न जाने उसे क्या हुआ था। मुझे पुचकारते हुए बोला था, 'तुम्हारा आंबेडकर हमारे तैंतीस करोड़ पर बहुत भारी है लेकिन तुम उसे समझ नहीं पाए... काश! तुम उसे समझ पाते।'

पीताम्बर कहे जा रहा था और मैं... मैं तो उल्लू की तरह, उसे देखे चला जा रहा था और उसमें अपना कच्चे एक वाला पीताम्बर खोज रहा था। उसकी बातें मेरे समग्र लेखन, संपूर्ण विद्वता पर भारी पड़ रही थीं।

'हमारे गांव में हमारा क्या है', में दलित संवेदना

डॉ . अमित धर्मसिंह कृत काव्यमय आत्मकथा

डॉ. अमलपुरे सूर्यकांत विश्वनाथ
अध्यक्ष हिंदी विभाग
डॉ. श्री नानासाहेब धर्माधिकारी कॉलेज
गोवे-कोलाड, तहसील-रोहा
जिला-रायगड , महाराष्ट्र
पिन: 402304
मो. 9766731470
E-mail:
sureshamalpure05@gmail.com

प्रस्तुत काव्यमय आत्मकथा ने भारत जैसे देश के प्रत्येक पाठक को एक नया संदेश दिया है। एक युवा रचनाकार की इस कृति ने असंख्य समीक्षकों के लिए नया मोड दिया है। हमारे समाज व्यवस्था में चौथा वर्ग ऐसी प्रताड़ना झेलता आया है, उनके दुखों की एक लंबी श्रृंखला यह कृति है। गांव और शहर में निवास करने वाले दलित जातियों पर निम्न जाति का ठप्पा इस तरह से चिपका रहता है कि उनके जातीय संसार मृत्यु के कारण छोड़ने के बाद भी वह उनका पीछा नहीं छोड़ता। शवदाह स्थलों को भी आज बांटा गया है। समाज मंदिरो में, बावडी भी बांटा गया है। इस सामाजिक कुरीतियों को समाप्त करने के लिए हजारों सालो से संत-साधुओं ने संदेश दिया फिर भी यह समाप्त नहीं हुई। इस जातीय दंश को पूर्णतया मिटाने में आज समाज सफल नहीं हो पाया है। यह सबसे बड़ी समस्या समाज के लिए संवेदना का पक्ष है।

'हमारे गांव में हमारा क्या है', के रचनाकार और दलित संवेदना के पक्षधर अमित धर्मसिंह का जन्म उत्तर प्रदेश के जिला मुजफ्फर नगर के कसबा ककरवली में 18 जून 1986 को हुआ। प्राथमिक शिक्षा गांव में ही हुई, पढ़ाई में बहुत होशियार थे। कक्षा पांच पास होने के बाद इनका मन गांव वहल्ला के ही स्कूल में जाने का हुआ। सन् 1999 में इंटर कॉलेज से पास हुए, आगे ग्यारहवीं भी पास हो गये। बारहवीं की परीक्षा छूट गई। बहुत साल के बाद सेकंड डिविजन में पास हो गये। आगे उच्च शिक्षा चौधरी चरण सिंह विश्वविद्यालय मेरठ से एम. ए. और दिल्ली विश्वविद्यालय से पीएच.डी पूरी की। सन् 2014 में कविता लेखन का प्रारंभ कक्षा पांचवीं से ही शुरू कर दी थी। कोरोना काल में भी उनका काव्य संग्रह 'कोरोना काल में दलित कविता' प्रकाशित हुई। सन् 2019 में 'हमारे गांव में हमारा क्या है' काव्यमय आत्मकथा प्रकाशित हुई।

इस काव्यमय आत्मकथा के बारे में हिंदी के प्रसिद्ध आलोचक डॉ. रामनिवास जी कहते है- 'कवि ने

इसमें अपने बाल्यावस्था में भोगी हुई निर्धनता को यथार्थ रूप में पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत किया है। जमींदारों द्वारा किसानों का शोषण किया जाता है। ठेकेदार भट्टे में मजदूर को झोंक देते हैं। उसके झुलसने के साक्ष्य तक मिटा देते है। गांव मे रहने वाले दलित इस तरह के अपमान और तिरस्कार झेलने के लिए अभिशप्त हैं। उनके दुःख पीड़ा को कोई सुनने वाला नहीं होता। उनके बालक खट्टे, कच्चे डंठलों आदि में नमक लगाकर चटकारे लेकर अपना पेट भरते है।'[1]

हिंदी साहित्य के अधिकांश साहित्यकार अपने साहित्य में गांव का चित्रण करते हैं। अपने गांव को जानने और याद करने की सबकी अपनी-अपनी स्मृतियां और अनुभूतियां होती है। खेत, खलियान, मंदिर, घर, गली, धर्मशाला यथार्थ चित्रण आदि मिलता है। कवि डॉ. अमित धर्मसिंह अपने इस काव्य में आत्मकथा की पहली कविता 'हमारे गांव में हमारा क्या है' में लिखते हैं-

'न आंगन हमारा है
न खेत हमारा है
ये खेत मलखान का है
ये दुकान लाला की है
ये चक्क धुम्मी का है
ये बाग खान का है
वो कोल्लू ठाण का है
ये धर्मशाला की है
वो मंदिर जैनियों का है...
हमारे गांव में हमारा क्या है,
ये हम आज तक नहीं जान पाये।'[2]

इसमें दलित समाज की संवेदनाओं को अंकित किया है। जिसमें जिंदगी का अभाव और उपेक्षा का जीवन जी रहे दलित वर्ग का चित्रण है। संदेह नहीं कि अमित धर्मसिंह की कविता में संघर्ष और जीवन का यथार्थ चित्रण किया है। प्रस्तुत काव्यमय आत्मकथा हमारे गांव में हमारा क्या है 2019 में बोधि प्रकाशन, जयपुर से प्रकाशित कृति में कवि ने ये काव्य संग्रह बच्चों को समर्पित करते हुए लिखा हैं- 'उन तमाम बच्चों को जिनका बचपन किसी उत्सव की तरह नहीं किसी गहरे शोक की तरह बीतता है।'[3]

''डॉ. अमित धर्म की कविता साहित्यिक अनुसंधान केंद्र की प्रयोगशाला में तैयार होकर नहीं आई बल्कि यथार्थ के धरातल पर समस्याओं से दो-दो हाथ करती है, हृदय की हर धड़कन से उठती हुक को आत्मसात करती संघर्षशीलता का दामन थामे कागज पर उतरती है।''

इसी तरह दलितों द्वारा लिखी गई अनेक रचनाओं में दलित बच्चों की ग्रामीण जीवन की दुर्दशा का मर्मस्पर्शी वर्णन मिलता है। फिर चाहे ओमप्रकाश वाल्मिकि की आत्मकथा 'जूठन' में बालकओमप्रकाश हो या श्यौराज सिंह बेचैन की आत्मकथा 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' में श्यौराज बालक छुआछूत के साथ-साथ घोर गरीबी से जूझता है। दलित बचपन सच अंतस् को झकझोरकर रख देता है।

डॉ.अमित धर्मसिंह की इस काव्यमय आत्मकथा के बारे में कश्मीर सिंह जी लिखते है- 'इनकी कविता साहित्यिक अनुसंधान केंद्र की प्रयोगशाला में तैयार होकर नहीं आई बल्कि यथार्थ के धरातल पर समस्याओं से दो-दो हाथ करती है, हृदय की हर धड़कन से उठती हुक को आत्मसात करती संघर्षशीलता का दामन थामे कागज पर उतरती है।'[4]

प्रस्तुत काव्यमय आत्मकथा में अमित धर्मसिंह ने त्रासदीपूर्ण जीवन के संघर्ष के चित्रण के अतिरिक्त और भी बहुत कुछ इस काव्य संग्रह में लिखा है। बचपन के दिनों में अपमानित स्थिति या त्रासदी से युक्त जीवन की वेदना को प्रकट किया है। जैसे कवि लिखते है-

'भूख पैर न टिकने देती
कागज मे नमक लेकर
नेकर के नेफफे में घसुंडाते
कोई छोटा-मोटा चक्कू
बुशर्ट में छुपकर,
दो-तीन यार मिलकर
जंगल में निकल जाते
...शहतूत, गाजर, मूली, छोटी-छोटी हरी सरसों की डेंठल।'[5]

प्रस्तुत कविता में अपने बचपन की यादें कवि ने ताजा की है। बचपन की सच्चाई का यथार्थ रूप है। दूसरों के खेत से बथुआ तोड़कर लाना,

जामुन और आम चुराकर खाना वैसी हरकतें बच्चे अपने बचपन में करते हैं। बचपन किसी जाति या वर्ग से जुड़ा नहीं होता है। जैसे चाहे वैसे बच्चे अपना बचपन बिताते है। गरीब के बच्चों का तो पेट भरने का संघर्ष बचपन में ही शुरू हो जाता है। भूख लगने पर बच्चे जब घर जाकर अपने मां से पूछते हैं कि रोटी क्यों नहीं बनाये? तब मां कातर दृष्टि से बच्चों को देखती तो उसकी आंखों में विवशता झलकती दिखाई देती है। इस तरह वेदना को मुखर स्वर देती उनकी यह 'बचपन के पकवान' कविता प्रस्थापित यथास्थिति समाज पर करारा चोट करती है। यथास्थिति की यह आज भी वैसी ही बनी हुई है। यह सच्चाई है कि सदियों की सडांध को डॉ. आंबेडकर के विज़न से ही साफ किया जा सकता है। शिक्षा की तलवार ही गरीबी को काट सकती है। इसलिए कवि ने शिक्षा को अंगीकार किया है। बरसात कविता में दारूण स्थिति को बयान करते हुए कवि लिखता है-

'हमारी छोटी उमर में,
बरसात बडी मुश्किल लेके आती
हमने बरसात में कागज की
नाव चलाई
गलियों में भरे पानी मे उछले-कूदे
बारिश बंद करवाने के लिए
उलटे तवे-परात बजाये
मगर यह सब ज्यादा दिन न चला,
बारीश के साथ-साथ
छत का टपकना बढ़ जाता
बाल्टी, तसला, भिगौना बर्तनों
आदि रखें जाते
फिर भी नौबत बर्तनों और
कपड़ों के भीगने की आ जाती।'[6]

इस तरह बरसात के दिनों की पीड़ा का दर्द यथार्थ रूप में कवि ने चित्रित किया है। उनकी कविता में पीड़ा की यह अनवरत धारा अपने नये-नये रूपों में दिखाई देती है। उनकी यह कविता समाज पर चोट करती है।

डॉ.अमित धर्मसिंह के इस काव्यमय आत्मकथा में काली नदी, जरूरत किताबे, वर्षा ऋतु, शिकंजा, टोटे की निशानी, गुल्लक से पासबुक, रखवाले, प्रलाप जैसी 41 कविताएं हैं। समाज के आक्रोश, शोषण तथा संघर्ष का बयान कविता करती है। वरिष्ठ साहित्यकार कृष्ण सुकुमार आपने समीक्षात्मक प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहते हैं-'कवि यहां आपको असामान्य दारुण स्थिति से परिचित करा भर रहा है, जिनको भोगते हुए वह बड़ा हुआ है। ...स्वर यहां न आकर्षित है न शिकायत भरा।'[7]

उनकी प्रसिद्ध कविता पढ़ाई के टोटके में लिखते है-

'किताबो से सामना
शुरू हुआ था,
न घडी थी,
न टेम देखना आता था,
अंदाज से ही सुबह उठते,
तैयार होते और स्कूल जाते।'[8]

इस कविता में पढ़ाई की कहानी बताई है। न कोई उनके पास घड़ी थी। समय को देखने के लिए या तो कोई ऐसा बताने वाला व्यक्ति था। सुबह उठकर नहा-धोकर सीधा स्कूल का रास्ता देखते। वही पढ़ाई करते थे। कभी देर हुआ तो दुबळे महाराज का जप मन ही मन करते थे। बच्चों के साथ झगडे भी होती थे। किताब मे मोरपंख रखते, उसे गुड्डी कहते थे। गलती से किताब हाथ से गिर जाए तो उसे माथे पर लगाकर चुमते थे। मास्टरजी कहते तेज दिमाग के लिए सूरज की तरफ पिछवाडा करके मल त्यागना चाहिए। कभी-कभी भूखे पेट स्कूल जाते।

ऐसे हालत में उन्होंने पूरी पढ़ाई की। यह विशेष है। हमारे गांव में हमारा क्या है निश्चित रूप से एक आत्मकथात्मक काव्यसंग्रह है किंतु इसमे संकलित कविता में अक्षर-अक्षर, शब्द-शब्द पिरोई गई पीड़ाएं तो हर उस बालक की है और उस व्यक्ति की है, और पूरे समाज की है, जो अभाव में जन्मता है, अभाव में ही पलता है, एक दिन अभावों को ही समर्पित हो जाता है।

'काली नदी' कविता में शहरों के बीच से गुजरती नदी ही प्रदूषित नहीं है, अब तो गांव और जंगल के बीच से गुजरने वाली नदियां भी इस भयानक

''इस तरह बरसात के दिनों की पीड़ा का दर्द यथार्थ रूप में कवि ने चित्रित किया है। उनकी कविता में पीड़ा की यह अनवरत धारा अपने नये-नये रूपों में दिखाई देती है। उनकी यह कविता समाज पर चोट करती है।''

स्थिति से बची नहीं है। 'नुसके' कविता में गरीब मजदूर लोगों के बच्चे कठिन जीवन जीने को मजबूर है। नाम मात्र की देशी दवा के बल पर कष्टमय जीवन जीया करते हैं। नन्हीं-नन्हीं जानो में भी गजब की प्रतिरोधक क्षमता, व्यवहारिकता और सपाट जीवन की झलक दिखाई देती है। 'जरूरत' इस कविता में बेगार करवाने वाली दुष्ट बुढ़िया और एक छोटा बच्चा जो सरल स्वभाव के साथ स्वयं को आत्मनिर्भर बनाने का सपना संजोए हुए है जो अपने भोलपन की वजह से ठगा जाता है, का सुंदर चित्रण है। 'सिकंजा' कविता में भट्टे पर जवान लड़के के पांव आवे में धंस जाते हैं। कुछ ईटों का नुकसान मालिक के लिए ज्यादा क़ीमती होता है। वर्णवादी समाज में निम्नजातीय व्यक्ति से वस्तु ज्यादा मूल्यवान होती है।

'गुलक के पासबुक' में कवि ने गरीबी और बेईमानी का यथार्थ चित्रण किया। 'रखवाली' कविता में कवि ने अपने ताऊ का जिक्र किया है कि कलेसर में अपना पांव गंवा बैठे है। खतिहार मजदूर का शोषण किया है। 'प्रलाप' इस कविता में कवि ने तंगी में पल रहे देश की बहुतांश आबादी का यथार्थ चित्रण किया है। वरिष्ठ दलित लेखक साहित्यकार पुष्पा विवेक डॉ. अमित धर्मसिंह के इस काव्यमय आत्मकथा के बारे में कहते है— 'डॉ .अमित धर्मसिंह द्वारा लिखित काव्यमय आत्मकथा समाज के ज्वलंत मुद्दों और समस्या को उठाती है। मुंशी प्रेमचंद द्वारा लिखित कहानियों की भांति मनोविज्ञान के आधार पर उत्पन्न संवाद को चित्रित किया है। मेले में जाने के लिए नये कपड़ों की खरीद की मांग को मां-बाप द्वारा पूरी न किए जाने की मजबूरी के उपरांत भी बालक के मेले में जाने का जोश ठंडा नहीं पड़ता। ...खाने की चीजों और खिलौनो को देखकर उसका मन फिर ललचाता है। उनका मानना है कि कवि ने इसके माध्यम से समस्त गांव देहांत के गरीब बच्चों की स्थिति का चित्रण किया है।'[9]

उपर्युक्त विवेचन के अनुरूप हम निष्कर्ष रूप से कह सकते है कि डॉ.अमित धर्मसिंह द्वारा लिखित काव्यमय आत्मकथा हमारे गांव में हमारा क्या है, यह बचपन की यादों का साजरा किया है। उनकी भोगी हुई पीड़ा, कष्ट, दु:ख व दर्द पूरे समाज की पीड़ा, कष्ट, दु:ख व दर्द का प्रतिनिधित्व करता जान पड़ता है। गहन दलित संवेदनाएं उनकी आत्मकथा में दिखाई देती है। गरीबी का कहर छोटे-छोटे दडबेनुमा घर जहां संसाधन के अभाव मे आर्थिक संकट से घिरा दलित समाज झटपटाता दिखाई देता है। इस प्रकार ग्रामीण क्षेत्र में जो शोषण का रूप है वह ईमानदारी से उजागर किया है। पाठक इसको पड़ककर स्वयं ही किसी नतीजे पर पहुंचने को मजबूर हो जाता है। यह कार्य कवि द्वारा नहीं पाठक द्वारा आत्मप्रेरित होता है।

संदर्भ ग्रंथ:-

1. सं. डॉ. राजन तनवर-हमारे गांव हमारा क्या है, के विविध पाठ- डॉ.रामनिवास [भाग-एक] समीक्षा संकलन पृ.7
2. डॉ.अमित धर्मसिंह हमारे गांव में हमारा क्या है, बोधि प्रकाशन, जयपुर 2019, पृ.2
3. अमित धर्मसिंह 'हमारे गांव में हमारा क्या है' [समर्पण से उद्धृत किया है]
4. सं. डॉ. राजन तनवर-कश्मीर सिंह-हमारे गांव में हमारा क्या है के विविध पाठ-[भाग-एक] समीक्षा संकलन पृ.7
5. डॉ. अमित धर्मसिंह बचपन के पकवान पृ.5
6. डॉ.अमित धर्मसिंह-बरसात पृ.6
7. कृष्ण सुकुमार-सं .डॉ. राजन तनवर-हमारे गांव हमारा क्या है, के विविध पाठ [भाग-एक] समीक्षा संकलन पृ.7
8. -वही-पृ.159
9. पुष्पा विवेक, -वही- पृ.10

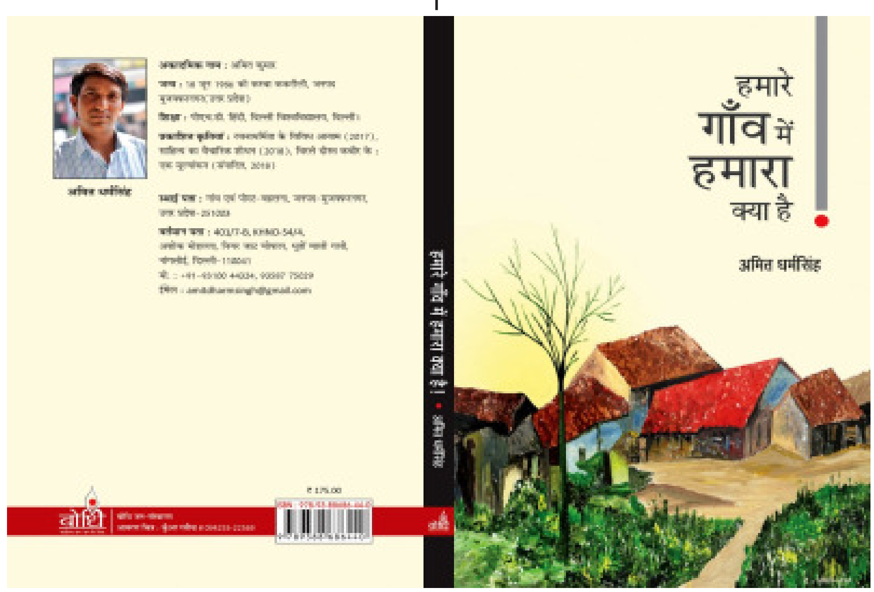

बेग़मपुरा

सभ्यता का अह्वान

साहित्य का आंदोलन-आंदोलन का साहित्य

बेग़मपुरा

सभ्यता का अह्वान

साहित्य का आंदोलन-आंदोलन का साहित्य